भारतीय परम्परा के मूल स्वर

डॉ० गोविन्द चन्द्र पांडे

भारतीय परम्परा के मूल स्वर

डॉ० गोविन्द चन्द्र पांडे

हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान-माला-१

भारतीय परम्परा के मूल स्वर

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली-११०००२

भारतीय परम्परा के मूल स्वर

डॉ० गोविन्द चन्द्र पांडे

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : ३०.००

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण १९८१ /
 / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित ।

BHARTIYA PARAMPARA KE MOOL SWAR (Criticism)
by Dr. Govind Chandra Pandey Price Rs : 30.00

निवेदन

'भारतीय परम्परा के मूल स्वर' वस्तुत: उन व्याख्यानों का लिखित रूप है जो डॉ० गोविन्द चन्द्र पांडे ने **वत्सल निधि** द्वारा प्रवर्तित **स्व० हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान-माला** के अन्तर्गत दिये। वत्सल निधि के न्यासधारियों के लिए यह परम सन्तोष का ही नहीं, गौरव का भी विषय है कि वे इन व्याख्यानों के इस रूप में प्रकाशन का निमित्त बन सकें। डॉ० पांडे प्राचीन भारतीय इतिहास और दर्शन के जाने-माने पंडित हैं और भारतीय संस्कृति की उन की अवधारणा से अध्येता और विद्वज्जन परिचित हैं। इस संस्कृति का विस्तार और उस की गहनता को देखते हुए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि विद्वानों ने उसे भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा हो, लेकिन डॉ० पांडे ने उस का जो सुचिन्तित, सुतर्कित और समग्र चित्र प्रस्तुत किया है वह आज के परिवेश में अपना विशेष महत्त्व रखता है। उस से विद्वान् अध्येता अथवा विशेषज्ञ को ही बौद्धिक तृप्ति नहीं मिलेगी बल्कि साधारण भारतीय पाठक को भी एक नयी दृष्टि और एक नया आलोक मिलेगा जिस के सहारे वह स्वयं अपनी सांस्कृतिक अस्मिता प्रतिष्ठित कर सकेगा। इस की आज कितनी आवश्यकता है, यह बताने की ज़रूरत नहीं है; यह भी जानी हुई बात है कि भारतीय इतिहास और संस्कृति का विषय हमारे विश्व-विद्यालयों में जिस रूप में पढ़ाया जा रहा है उस से अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की न कोई पहचान बनती है, न उस के लिए कोई सम्यक् दृष्टि मिलती है यद्यपि विद्यार्थियों में थोड़ा भी गम्भीर चिन्तन

करने वाले सभी इस की आवश्यकता का तीखा अनुभव करते हैं। जब ये व्याख्यान दिये गये तब उस के प्रत्यक्ष श्रोताओं में अनेक ऐसे थे जिन्होंने अनुभव किया और स्वीकार किया कि यद्यपि ये विषय उन्हें पढ़ाये गये हैं या पढ़ाये जा चुके हैं तथापि उन्हें समझने की जो दृष्टि इन व्याख्यानों से और डॉ० पांडे के विषय-प्रतिपादन से मिल रही है वह उन्हें पहले नहीं मिली थी। ऐसे अनेक व्यक्तियों का आग्रह भी था कि ये व्याख्यान जल्दी पुस्तकाकार प्रकाशित हो कर उपलब्ध कराये जायें।

वत्सल निधि की आशा भी यही थी, और इस व्याख्यान-माला का प्रयोजन भी यही है कि भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ऐसी समग्र दृष्टि का विकास हो और इस की आवश्यकता का अनुभव भी एक लगातार बढ़ता हुआ समाज करे। निधि और उस के न्यासधारी डॉ० पांडे के प्रति आभारी हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ति में उन का ऐसा महत्त्वपूर्ण और स्थायी प्रभावशाली सहयोग उन्हें मिल सका।

नेशनल पब्लिसिंग हाउस और उस के स्वत्वाधिकारियों के भी हम आभारी हैं जिन्होंने हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान-माला के अन्तर्गत दिये गये व्याख्यानों को पुस्तकाकार छापना स्वीकार किया है और इसे केवल एक व्यावसायिक आयोजन न समझ कर वत्सल निधि के उद्देश्यों में अपनी निष्ठा व्यक्त करने का एक साधन माना है।

हमारा विश्वास है कि सभी भारतीय अध्येता इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन

वत्सल-निधि

वत्सल-निधि (स्थापित १९८०) के न्यासपत्र के अनुसार उस के उद्देश्य ये हैं :

—साहित्य और भाषा की संवर्द्धना; साहित्यकारों और विशेषतः युवा लेखकों की सहायता; साहित्यिक अभिव्यक्ति, प्रतिमानों, संस्कारों का तथा साहित्य-विवेक और सौन्दर्य-बोध का विकास; अन्य सभी सम्बद्ध आनुषंगिक कार्य।

इन लक्ष्यों के लिए अपने साधनों की सीमाएँ ध्यान में रखते हुए वत्सल निधि निम्नलिखित कार्यों का आयोजन करेगी :

—व्याख्यान-मालाएँ, शिविर, कार्यशालाएँ, संगोष्ठियाँ, परिसंवाद, सभाएँ, उत्सव और यात्राएँ;

—सन्दर्भ सामग्री और दस्तावेज़ों का संग्रह, दृश्य-श्रव्य उपकरणों का संग्रह तथा फ़िल्म, टेप, चित्र, पांडुलिपि आदि का निर्माण, संग्रह, सम्पादन आदि;

—लेखकों के लिए विनिमय, भ्रमण, सहयोग और सहायता के कार्यक्रम;

—शोध अथवा लेखनावकाश वृत्तियाँ;

—पत्रकों और पुस्तिकाओं का प्रकाशन, आदि।

स्व० डा० हीरानन्द शास्त्री (१८७४-१९४६), जिन की स्मृति में वत्सल निधि द्वारा एक व्याख्यान-माला का प्रवर्तन हुआ है, भारतीय इतिहास, पुरालेख तथा पुरातत्त्व के प्रसिद्ध मर्मज्ञ और संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं के विद्वान् थे। कुशी-

नगर, सारनाथ, नालन्दा आदि के महत्त्वपूर्ण उत्खनन उन की देख-रेख में हुए थे। पंजाब के पर्वतीय प्रदेश के पुरावशेषों का सर्वेक्षण, लखनऊ संग्रहालय की स्थापना, तत्कालीन जम्मू-कश्मीर राज्य में पुरातत्त्व विभाग की और श्रीनगर संग्रहालय की स्थापना, बड़ौदा राज्य में पुरातत्व विभाग का संस्थापन और बड़ौदा संग्रहालय के भारतीय खंड का पुन:संगठन और गुजरात के विभिन्न स्थलों में उत्खनन कार्य का आरम्भ उन्होंने किया।

डा० हीरानन्द शास्त्री के प्रकाशनों में कई शोध प्रबन्ध और प्राचीन स्थलों की परिचायिकाएँ भी हैं। चित्रकला और मुद्राशास्त्र के बारे में उन्होंने पुस्तकें लिखीं। **एपीग्राफ़िया** तथा **इंडियन एंटिक्वेरी** का उन्होंने कई वर्षों तक सम्पादन किया। विंसेंट स्मिथ के भारतीय इतिहास की एक लम्बी और विवरणात्मक आलोचना प्रकाशित करने की सरकारी अनुमति न मिलने पर उन्होंने उसे निजी तौर पर इतिहासविदों के पास अवलोकनार्थ भेजा था।

डॉ० हीरालाल, श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय और डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल उन के अभिन्न मित्रों और सहयोगियों में रहे। इस के अतिरिक्त देश और विदेश के अनेक विद्वानों और भारतविदों से उन्हें सम्मान मिला : इन में स्व० गौरीशंकर ओझा, राहुल सांकृत्यायन, राय कृष्णदास, वोगेल, लेवी, सेनार, ओल्डहम, फ्रेंच आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

□

क्रम-सूची

भारतीय परम्परा के मूल स्वर

एक

'सम्भवामि युगे-युगे'

सनातनता और ऐतिहासिकता

संस्कृति की अवधारणा का आविर्भाव और उसकी ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

जिस सामाजिक और सांकेतिक विश्व में मनुष्य अपने मौलिक संस्कार अर्जित करते हैं, उसे चिरकाल से एक सनातन आदर्श व्यवस्था का लौकिक अनुकरण समझा जाता रहा।[1] इसके विपरीत वह एक भंगुर और ऐतिहासिक मानवीय रचना है, न कि कोई ईश्वरीय अथवा शाश्वत वस्तु, यह धारणा पहले-पहल १९वीं शताब्दी में प्रचलित हुई।[2] पश्चिमी सभ्यता के अन्य सभ्यताओं के साथ सम्पर्क से १८वीं शताब्दी में ही इस धारणा ने जन्म लिया था कि विभिन्न समाजों और सभ्यताओं का नानात्व तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन का उपयुक्त विषय है। प्रगति के नये सिद्धान्त ने इस कल्पना को युक्त बताया कि सांस्कृतिक विभेद मानव-जाति के विकास की अवस्थाओं के अनुरूप होते हैं। प्रगतिवादियों का यह भी विश्वास था कि विकास का उनके समय तक का सर्वोच्च शिखर उनकी अपनी अर्थात् पश्चिमी सभ्यता की अर्वाचीन अवस्था में ही प्राप्त किया जा सका। १९वीं शताब्दी में विकासवाद और प्राकृतिक वस्तुवाद के आधार पर समाजविज्ञान, नृतत्त्व विद्या, पुरातत्त्व आदि ज्ञान की नवीन विधाओं की स्थापना हुई और इतिहास लेखन ने एक नया रूप धारण किया।[3] तब से इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानवीय व्यवस्था को प्रकृतिकल्प वस्तु-व्यवस्था मान कर उसके प्रत्यक्षमूलक अनुसन्धान में नाना समाजवैज्ञानिक विधाएँ प्रस्तुत हैं। इस दृष्टि से इसमें कोई सन्देह नहीं होता कि अफ्रीका और एशिया के देशों की दुर्बलता और दरिद्रता उनके ऐतिहासिक पिछड़ेपन के कारण है। जिन मूल्य-व्यवस्थाओं को ये समाज

सनातन मान कर सदियों से संरक्षित करते रहे, उन्हें एक अविकसित अवस्था का द्योतक मानना अनिवार्य लग रहा है। साम्राज्यवादी युग में पाश्चात्य देश 'सभ्यता' के प्रचार को अपनी ज़िम्मेदारी मानते थे, अब पिछड़े देश राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर पाश्चात्य रीति-नीति को स्वयं सहर्ष अपना रहे हैं ताकि वहाँ की पूँजी और विज्ञान की सहायता से अपना विकास कर सकें। विकसित और अविकसित देश मानो एक अखिल भूमंडलीय विकास की योजना में साथ-साथ लगे हैं। यह माना जा रहा है कि वर्तमान युग अतीत और भविष्य के बीच एक वैसे ही आत्यन्तिक विभाजन की सीमा पर स्थित है जैसे लगभग दस हज़ार वर्ष पहले नवाश्मयुगीन क्रान्ति के समय था।[४] जैसे पूर्व-पाषाण-युग का सुदीर्घकालीन जीवन परवर्ती इतिहास से विच्छिन्न-सा होकर कुछ अबोध संस्कारों और मिथकों में शेष रह गया, ऐसे ही लगता है भविष्य में पिछली दस सहस्राब्दियों की परम्परा एक अभिलेख-कौतूहल मात्र रह जायेगी।

मनुष्य की इसी प्राकृतिकता और ऐतिहासिकता के बोध पर आधारित मानवता-विषयक जिज्ञासा ने संस्कृति की अवधारणा को जन्म दिया है। टाइलर की सुप्रद्धि परिभाषा के अनुसार 'संस्कृति अथवा सभ्यता वह इकाई है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य के द्वारा अर्जित अन्य सभी योग्यताएँ सम्मिलित हैं।'[५] इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति एक साथ ही सामाजिक मनुष्य की अवस्था-विशेष एवं कृतित्व के रूप में समझी जानी चाहिए। ऐतिहासिक काल में बदलती हुई सामाजिक व्यवस्थाएँ नृतत्त्ववेत्ता के लिए तटस्थ रूप में प्रत्यक्ष के योग्य विषय हैं। क्रोबर के शब्दों में, 'जैसे वैज्ञानिक शिलाओं का अध्ययन करते हैं, ऐसे ही नृतत्त्ववेत्ता, मानवीय संस्कृति का।' उनके लिए मनुष्य प्रकृति-जगत् में आत्मा से रहित 'पशु से अभिन्न' है और संस्कृति की प्रेरणा मात्र प्राकृतिक है।[६]

संस्कृति की प्राचीन एवं समाजवैज्ञानिक अवधारणाओं में मूल्य-व्यवस्था एवं वस्तु-व्यवस्था का सम्बन्ध

प्राचीन धारणा में प्रकृति की उपेक्षा नहीं थी, न मानवीय साध्यों में प्रवृत्ति-मूलक अर्थ सर्वथा निराकृत थे। किन्तु प्रकृति को स्वतन्त्र या स्वपर्याप्त नहीं माना जाता था। मनुष्य के लिए भी अपनी आहंकरिक शक्तियों से भोग-रचना का अनुसन्धानमात्र आदर्श न माना जाता था। मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति में एक दिव्य बीज अन्तर्निहित है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के संस्कार की आवश्यकता है।[७] देव-शक्ति की ओर उन्मुख भाव से त्यागपूर्वक कार्यसम्पादन ही सम्यक् कृति या संस्कृति है जो कालक्रम से प्रकृति-गर्भ से देवत्व के अवतार का हेतु बनती है। देवत्व के अनुविधान से मानवीय स्तर पर दिव्यत्व का प्रकाशन ही मनुष्य का धर्म

है। इस प्रकार पुरुष का अर्थ या प्राप्तव्य मात्र प्राकृतिक अर्थ से भिन्न ठहरता है। इस प्राचीन दृष्टि के विपरीत यद्यपि आधुनिक दृष्टि में मूल्य अथवा पुरुषार्थ आपाततः उपेक्षित नहीं है और सभी तत्त्ववेत्ता मूल्यों को संस्कृति में अन्तर्भूत करते हैं और कुछ तो संस्कृति को मुख्यत: एक मूल्य-व्यवस्था बताते हैं,[८] किन्तु तो भी उनके लिए मूल्य एवं मूल्यनिर्मित संस्कृति का आधार प्राकृतिक मानवता ही रहती है।[९] और इसका मूल कारण मानवीय परिशीलन के क्षेत्र में तथाकथित वैज्ञानिक पद्धति का स्वीकार है। प्रकृतिवैज्ञानिक अध्ययन प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है, कम-से-कम उसके सिद्धान्तों का सत्यापन प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है। प्रत्यक्षगोचर होने के नाते एवं कार्य-कारण सम्बन्ध के अधीन स्वीकार किये जाने के कारण, विज्ञान के विषय तटस्थ वस्तु मात्र अवधारित होते हैं। मूल्यों को भी प्रकृति-परतन्त्र मानव की मनोयोजनाएँ मानकर उनके तटस्थ निरूपण की दृष्टि सभी समाजवैज्ञानिक अध्ययनों में मिलती है।[१०] मनोविज्ञान मानसिक व्यापारों को ही प्रत्यक्ष व्यवहार से अतिरिक्त धर्म नहीं मानता। समाजशास्त्र के लिए आचार व्यवस्थाएँ तथ्यमात्र हैं। पुरातत्त्व भौतिक आधार पर सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के विकास का निरूपण करता है। आदिम मनुष्य जंगली था, उसने क्रमशः प्राविधिक ज्ञान की वृद्धि के सहारे पशुपालन, अन्नोत्पादन, धातुओं का उपयोग, नगर-निर्माण और साक्षरता अर्जित कर सभ्यता का निर्माण किया।[११] इस निरूपण में जहाँ संस्कृति सामुदायिक जीवन की वस्तुस्थिति मात्र है, सभ्यता उसके उत्कर्ष की अवस्था है, और सभ्यता को समझाने की कुंजी विज्ञान और उसकी सामाजिक उपयोगिता के अनुसार प्रयोग में ही उपलब्ध होती है। यही दृष्टि भौतिकवादी इतिहास की है।

नयी दृष्टि और पुरानी परम्परा—तीन विकल्प

जहां प्राचीन मान्यता के अनुसार मनुष्य एक शाश्वत धर्म के सहारे जीता है, प्रचलित आधुनिक मान्यता धर्म के स्थान पर संस्कृति को रखती है। यदि आधुनिक मान्यता सही है तो प्राचीन परम्परा का महत्त्व मात्र ऐतिहासिक ही हो सकता है, उसमें स्थायी स्वरों की खोज ही व्यर्थ है क्योंकि इस दृष्टि से पुरानी सांस्कृतिक परम्परा का एक पक्ष सार्वभौम, आधुनिक सभ्यता की भूमिका मात्र है जिसमें वह अपना परिष्कृत एवं विकसित रूप पाती है। परम्परा का दूसरा पक्ष जो आधुनिकता के अनुकूल नहीं है, काल के द्वारा निरस्त जकड़न मात्र है। एक किंवदन्ती है कि ख़लीफ़ा उमर ने सिकन्दरिया के पुस्तकालय के विषय में कहा था कि यदि उसकी पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो अनावश्यक हैं और यदि प्रतिकूल हैं तो मिथ्या हैं। ऐसी ही बात परम्परा के लिए आधुनिकता के दृष्टिकोण से वस्तुतः कही जानी चाहिए। इसके विपरीत एक दूसरा विकल्प यह है कि परम्परा

में आस्था रख आधुनिक दृष्टि को छोड़ने के लिए कहा जाय। किन्तु इस विकल्प पर विचार करना सम्भवत: उपयोगी न होगा, यद्यपि महात्मा गान्धी ने **हिन्द स्वराज्य** में इस तरह के विचार का सूत्रपात किया था। इसके विपरीत, इन दो विकल्पों के अतिरिक्त एक मध्यमार्गी विकल्प भी है जो प्राय: इस रूप में सामने आता है कि परम्परा का एक प्रगतिशील मानववादी पक्ष है जिसका समन्वय आधुनिक विज्ञान एवं प्रविधि के साथ किया जा सकता है। इस दृष्टि का एक उत्तम उदाहरण स्वातन्त्र्योत्तर भारत के शिल्पी पं० नेहरू की रचनाओं में देखा जा सकता है। १९६२ में लिखा हुआ उनका एक वाक्य इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है—**"हम लोग न केवल जनतान्त्रिक पद्धति से देश के औद्योगीकरण में लगे हैं बल्कि भारतीय दर्शन और जीवन-विधा की मौलिकता का संरक्षण भी करना चाहते हैं।**[१२] किन्तु पं० नेहरू की इस उक्ति के बावजूद वर्तमान भारतीय शिक्षा नीति इस समन्वयात्मक लक्ष्य का अनुसरण करती हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।[१३] चिन्तन और सर्जना के क्षेत्रों में भी ऐसी ही स्थिति प्राय: दिखाई देती है। जहाँ एक ओर चिरन्तन संस्कारों की अनिवार्यता हमें पुरानी परम्परा से जोड़े हुए है, हमारी नयी शिक्षा से अर्जित बौद्धिकता हमें उससे पृथक् करती है। समन्वय की बात कहाँ तक उचित और व्यावहारिक है, इस प्रश्न के निर्णय के लिए परम्परा के मौलिक स्वरूप पर विचार आवश्यक है।

संस्कृति की अवधारणा का तात्त्विक विश्लेषण

प्रचलित धारणा के अनुसार मनुष्य जिजीविषा और भोगेच्छा से प्रवृत्त होता है। विज्ञान और उसके द्वारा परिष्कृत कर्तृत्व उसे उपयोगी साधनों को उपलब्ध करने में समर्थ बनाते हैं। संगृहीत अथवा उत्पादित प्राकृतिक वस्तुएँ, कृत्रिम उपकरण, सामाजिक संस्थाएँ, सांकेतिक व्यवस्थाएँ, ये सभी विभिन्न स्तरों और प्रकारों के मानवीय साधन हैं जिनकी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष साधकता स्तर के अनुसार उपभोग्यता, उपयोगिता, अथवा मूल्य कही जाती है। यद्यपि देही मनुष्य का चरम लक्ष्य जैविक अनुभूति ही हो सकती है, तथापि सामाजिक संस्कार की प्रबलता के कारण परार्थ-सम्पादन एवं कल्पना-प्रवणता के कारण संकेत-विधान भी उसके लक्ष्य बन जाते हैं। इस प्रकार के परम्परित लक्ष्य अपनी निर्वैयक्तिकता के कारण भोग न कहे जाकर मूल्य कहे जा सकते हैं। किन्तु उनके पीछे भी सामाजिक उपयोगिता, निष्ठा एवं रुचि पर आधारित एक तर्कसंगति स्वीकार करनी होगी जोकि उन्हें ऐतिहासिक परिवर्तनशीलता प्रदान करती है।

किन्तु इस धारणा में अनुभूति-सिद्ध सत्यों का अपलापन और असिद्ध सम्बन्धों की कल्पना का दोष है। उदाहरण के लिए मूल्य के बौद्धिक आकर्षण और उसमें प्रतीत आत्मिक स्वतन्त्रता का किसी भी प्रकार की जैविक प्रवृत्ति, अथवा तृप्ति

से भेद अनुभव-सिद्ध हैं। ऐसे ही मानवीय आचार को प्रेरित करने वाली जो विवेक-मूलक संकल्पशक्ति है उसमें भौतिक कारणों के सम्बन्ध की कल्पना करना हेतु-सिद्ध नहीं है। प्रचलित धारणा संस्कृति या धर्मप्रधान पुरुषार्थ-व्यवस्था को मात्र अर्थ-काम-व्यवस्था बना देती है।

संस्कृति की वस्तुवैज्ञानिक व्याख्या प्रकृति और संस्कृति में ठीक भेद नहीं कर पाती है। प्रकृति तार्किक ज्ञान का रचित विषय है, संस्कृति निजानुभूति का प्रकार है। जिन मूल प्रत्ययों द्वारा दोनों विकल्पित होते हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं। तत्त्वतः प्रकृति एक ऐसी वस्तु-व्यवस्था है जिसका ज्ञान इन्द्रियगोचर प्रतिभासों के विश्लेषण-संश्लेषण से सम्पन्न होता है। इस ज्ञान के मूल प्रत्यय देश और काल, द्रव्य और कारणता आदि हैं। वस्तु मात्र इन प्रत्ययों के द्वारा ही अवधारित होती है।[१४] दूसरी ओर संस्कृति तत्त्वतः एक मूल्य-व्यवस्था है जिसका ज्ञान संकेतगोचर आत्मबोध के अथवा आदर्श-बोध के विवेचन से होता है। एषणीयता और औचित्य-अनन्तता और स्वतन्त्रता आदि द्वन्द्वात्मक प्रत्ययों से यह ज्ञान व्यवस्थापित है।[१५] हमारा प्रकृति का बोध एक अनात्म सत्ता के दबाव के अनुभव से प्रारम्भ होता है जबकि संस्कृति-बोध का आरम्भ, आत्मिक अथवा आदर्श सत्ता के संकेत अथवा प्रतिबिम्ब को पहचानने से होता है। प्रकृति का जगत् प्रत्यक्ष से निर्धारित, अपरिवर्तनीय कार्य-कारण-भाव से परिगृहीत जड़ वस्तुओं का विश्व है। सांस्कृतिक जगत् अर्थ-गवेषणा अथवा आत्मपर्येषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है। यह स्मरणीय है कि उपाधिभेद के कारण आत्मबोध की अनेक भूमियाँ हैं और उनके अतिक्रमण की क्रमिकता ही आध्यात्मिक यात्रा को एक सनातन इतिहास का रूप देती है।[१६]

मूल्य और मूल्यानुसन्धान

यहाँ पर यह स्पष्ट करना ठीक होगा कि यदि संस्कृति को इस सन्दर्भ में मात्र प्रकृति से भिन्न एक स्वतन्त्र मूल्य-विश्व (पुरुषतन्त्र अर्थव्यवस्था) माना जा रहा है तो मूल्य को आत्मबोध, औपाधिक आत्मबोध या उसके साधन से अभिन्न समझा जा रहा है।[१७] इस अभेद-प्रतिपत्ति के सम्बन्ध में इस समय दो-एक बातें कह कर ही सन्तोष करना होगा। मूल्येषणा या अर्थगवेषणा में एक अनिवार्य तत्त्व उसका स्वातन्त्र्य की ओर उद्दिष्ट होना है। यह स्वतन्त्रता पुरुष-तन्त्रता हो सकती है, प्रकृति-तन्त्रता नहीं, क्योंकि प्रकृति परतन्त्र-लक्षण है। जो विचारक मूल्य को मानवीय रचना अथवा इष्ट विषयमात्र मानते हैं, उन्हें इस तथ्य पर विचार करना चाहिए।[१८] एक और बात द्रष्टव्य है। मूल्यानुभूति में विषय अपने परिच्छिन्न स्वरूप को मानो पारदर्शी बना कर किसी अतिरिक्त अपरिच्छेद्य अर्थ की व्यंजना करता है। जो विचारक मूल्य को स्वतन्त्र विषय मानते हैं, उन्हें इस सांकेतिकता

पर विचार करना चाहिए। मूल्यानुभूति में विषय और विषयी दोनों रूपान्तरित हो जाते हैं। वास्तव में प्राकृत वस्तुओं का या प्राकृत कर्ता और भोक्ता का मूल्य-विश्व में प्रवेश ही नहीं होता, प्रवेश का अधिकारी होता है ऐसा विषयी जो अपने मूल्यात्मक विषय के साथ उसके अन्तर्व्याप्त स्वसंवेदन के समान जुड़ा रहता है, जैसे स्वप्नदर्शी स्वप्न के साथ। मूल्य की साध्यता अभिव्यंग्यतामात्र होती है। उसकी अनुभूति एक साथ ही साक्षात्कारात्मक एवं विवेचनात्मक है क्योंकि मूल्य की खोज में इच्छा और विवेक दोनों इस प्रकार सम्मिलित रहते हैं कि खोज का विषय सदा ही क्षितिज के समान पीछे हटता रहता है। यथार्थ की कोई भी उपलब्धि आदर्श की तुला के समक्ष पर्याप्त रूप से हृदयावर्जक और विवेकसम्मत नहीं हो पाती। इसी द्वन्द्व से मूल्यानुसन्धान की प्रक्रिया अनन्त रूप से अग्रसर होती है और उसकी नाना उपलब्धियों के संकेत स्पर्श-रेखाओं के समान एक आदर्श गति-पथ की सूचना देते हैं। सामाजिक चेतना को संस्कारित करते हुए ये संकेत संस्कृति को परम्परा का रूप प्रदान करते हैं।

संस्कृति की ऐतिहासिकता और उसके आयाम

इस प्रकार संस्कृति में दो आयाम देखे जा सकते हैं। सामाजिक परम्परा के रूप में संस्कृति में स्थूल ऐतिहासिकता देखी जा सकती है। दूसरी ओर अनन्त मूल्यानुसन्धान को अभिव्यक्त करने के नाते उसमें परमार्थ की ओर एक क्रमबद्ध उपसर्पण के सनातन इतिहास का संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए **रामचरितमानस** न सिर्फ़ एक सामाजिक इतिहास का अंग है बल्कि एक सनातन साधना का प्रतिबिम्ब। व्यक्तिगत अथवा सामूहिक व्यवहार की कारणभूमि से प्ररूढ़ सामाजिक चेतना के अभिसंस्करण के काल, क्रम और युक्ति का साक्ष्य के आधार पर अनुमान, यह तो व्यावहारिक इतिहास की सुविदित विधि है। दूसरी ओर साधन, उपलब्धि एवं सम्प्रेषण के सन्दर्भ में मूल्य-संकेतों से उनकी अर्थ-निरुक्ति, एवं अर्थ-रूप में विकल्पित प्रतीतियों के द्वन्द्वात्मक विकास का विवेचन, इन दो व्यापारों में आदर्श इतिहास की अन्वेषण प्रक्रिया अन्तर्निहित है। एक ओर है व्यवहारमूलक सामाजिक परम्परा में तथ्यान्वेषण और कार्य-कारण-सम्बन्धों का विश्लेषण जैसा कि साहित्य पर लेखन-मुद्रण के प्रभाव के इतिहास में देखा जा सकता है। दूसरी ओर है सांकेतिक अर्थों का निर्वचन और उसके सहारे मानवीय आत्मपर्येषणा का विवेचन जैसा कि अन्तर्यात्रा के व्यंजक साहित्य की रचना-आलोचना में देखा जा सकता है।[१९]

प्रत्यक्षयोग्य सार्वजनिक घटनाओं का इतिहास कार्य-कारण की शृंखला है, सांकेतिक अर्थों का विवेचन प्रतीतियों की द्वन्द्वात्मकता का आदर्श इतिहास।[२०] एक में वस्तुगत अस्तित्व की सापेक्षता से क्षणरूपी काल में घटनाएँ इतिहास बनती हैं।

दूसरी में प्रत्ययगत अर्थ-सापेक्षता से चेतना के क्रमरूपी काल में आदर्श की अभिव्यक्ति इतिहास होती है। सामाजिक परम्परा एवं आदर्श की संकेतविद्ध चेतना, दोनों ही रूपों में संस्कृति इतिहास से जुड़ी रहती है। एक इतिहास बहिरंग घटनाओं का होता है, एक चेतना का जो कि सामाजिक जीवन में आदर्श के रूप में व्यक्त होती है। यह आपत्ति की जा सकती है कि इस दूसरे प्रकार के इतिहास को वस्तुतः इतिहास नहीं कहना चाहिए क्योंकि वह व्यक्त यथार्थ की व्याख्या के प्रसंग में उसकी आधारभूत सम्भावनाओं की खोज करता है। इसके उत्तर में यह कहना आवश्यक है कि यह आपत्ति तो स्वयं आपत्तिकर्ता के लिए ही अपरिहार्य हो जायेगी। आखिर वैज्ञानिक इतिहास भी तथ्यों को नियमों के सहारे जानना चाहता है। इन नियमों को तो घटनावत् यथार्थ नहीं कहा जा सकता, न उन्हें मानवीय स्वभाव और सामाजिकता के एक स्थिर सन्दर्भ की कल्पना के बिना खोजा जा सकता है। जो भी इतिहास घटनाओं के अतिरिक्त उनकी व्यवस्थाओं और नियमों को खोजता है, वह सम्भावनाओं को अनिवार्यतया अन्तर्भुक्त करता है। इसके विपरीत जो इतिहास मात्र घटनाओं का वर्णन करता है, उसे शास्त्र या विचार ही नहीं कहा जा सकता। किसी भी शास्त्र को अपनी विषयवस्तु के नियामक सूत्र खोजने ही होंगे। इसके लिए सम्भावना-विचार आवश्यक होने से क्या इतने मात्र से इतिहास को शास्त्रपद से निकाल देना पड़ेगा? और यदि समाजवैज्ञानिक परिकल्पनाओं को लेकर चलने वाला इतिहास उस पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है तो तात्त्विक परिकल्पनाओं से उपकृत इतिहास को क्यों वर्जित करना होगा? यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्ष-समर्थित व्याप्तियाँ ही वैज्ञानिक शास्त्र में अनुमत हैं, न कि तत्त्वविचार में प्रचलित विशुद्ध कल्पनाएं, तो कहना होगा कि विशुद्ध कल्पना तो विज्ञान का भी आधार एवं आदर्श है, जैसा कि गणित और गणितीय भौतिकी में प्रसिद्ध है। सच तो यह है कि आदर्श इतिहास का इतिहासदर्शनात्मक निरूपण (उदा० विको, श्पेंग्लर आदि) अथवा दार्शनिक इतिहासात्मक निरूपण (उदा० हेगेल, डिल्थाई, क्रोचे आदि) संस्कृति को एक सामान्य व्याख्या-सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें व्यावहारिक इतिहास के तथ्य अन्तर्निहित तत्त्वों के संकेत बन जाते हैं।

अस्तु, वस्तुतः यह आपत्ति इसलिए भी व्यर्थ है कि क्षण और क्रम, वस्तु और प्रत्यय, इन्हें मात्र पृथक् सोचा जा सकता है, पृथक् किया नहीं जा सकता। जैसे विषयी और विषय परस्पर अध्यस्त रूप में ही व्यावहारिक आत्मबोध के घटक बनते हैं, ऐसे ही क्षण और क्रम, वस्तु और प्रत्यय, संकीर्ण रूप में ही उपलब्ध होकर व्यावहारिक विश्व के अंग बनते हैं। परस्पर अध्यस्त रूप में ही वस्तु-जगत् और मूल्य-जगत् संस्कृति को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं।[२१]

संस्कृति और सभ्यता

एक सुविदित उक्ति है कि संस्कृति की प्रक्रिया एक साथ ही आदर्श को वास्तविक और वास्तविक को आदर्श बनाने की प्रक्रिया है। यद्यपि मूल्य-विश्व कोई बाह्य-प्रदत्त प्राकृतिक वस्तु-जगत् नहीं है, तो भी वह मानवीय चेतना में संकेतित होकर भौतिक व्यवहार के साथ उसके साध्य और नैतिक नियामक के रूप में सम्बद्ध है। यदि भौतिक जीवन की रचना को, श्रम और विश्राम की बाहरी व्यवस्था को, सभ्यता कहा जाय, तो संस्कृति उसके आन्तरिक अर्थानुसन्धान का नाम होगा।[२२] सभ्यता मूलतः सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधनों का संयोजन है जबकि संस्कृति स्वतन्त्रता का अनुसन्धान है। सभ्यता के अन्तर्गत बाहरी प्रकृति का वशीकार एक तत्त्व है। किन्तु वह तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता का अंग नहीं बनता जब तक आन्तरिक मुक्ति की साधना से वह संयुक्त नहीं होता। सभ्यता आन्तरिक साधना की बाहरी सुविधाएँ प्रदान करती है। इन भौतिक सुविधाओं के साथ आध्यात्मिक कृतित्व का स्वरूपतः सम्बन्ध न होते हुए भी मनुष्य के प्रकृति पुरुषात्मक होने के कारण उनमें एक सम्बन्ध अवश्य बन जाता है। यद्यपि सिद्धान्ततः वासना-क्षय कर्म और भोग से न होकर ज्ञान से ही होता है, तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामान्यतया मनुष्य के लिए धर्म और भोग को ऐकान्तिक रूप से छोड़ना सम्भव नहीं है। उनके लिए मर्यादित रूप से कर्म और भोग का जीवन ही वासना-जाल को क्षीण करता हुआ उसके अन्तराल से आत्मबोध की ओर क्रमशः प्रेरणा देता है। अर्थात् भौतिक जीवन-यात्रा और आध्यात्मिक खोज का सन्धि-क्षेत्र नैतिक सामाजिक जीवन में उपलब्ध होता है जिसे कर्म-क्षेत्र अथवा धर्म-संग्राम का क्षेत्र कहा जा सकता है। नैतिकता का सूत्र ही सभ्यता और संस्कृति को जोड़ता है। वही सामाजिक जीवन की अन्तर्व्यवस्था का सूत्र है। आदर्श खोज भी सामान्यतः जीविका, शिक्षा, अवकाश, सुरक्षा, स्थूल दुःखों का प्रतिकार आदि व्यावहारिक सुविधाओं की अपेक्षा रखती है। स्वयं **भागवत** में कहा है कि **'धर्मादाक्षिण्यतेह्यर्थः।'** यही बात ग्रीन की इस उक्ति में समर्थित होती है कि आदर्श जीवन के लिए मानवीय अधिकार आवश्यक हैं और उनके चरितार्थ होने के लिए एक सुव्यवस्थित राज्य। फलतः यह कहा जा सकता है कि नैतिकता के द्वारा सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के उपकारक होते हैं। यदि सभ्यता का विकास नैतिकता की ओर उपेक्षा उत्पन्न कर दे तो न केवल वह सभ्यता संस्कृति की विपक्षी बन जायेगी अपितु स्वयं उसका अन्तःसूत्र छिन्न हो जायेगा। **'धर्मो रक्षति रक्षितः।'** इसी प्रकार से यदि आध्यात्मिक संस्कृति ज्ञान की अनधिकार चर्चा से कर्म-जीवन में अनास्था उत्पन्न कर दे तो वह स्वयं अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने की स्थिति पैदा कर देगी। जैसे व्यावहारिक स्तर पर क्रियात्मक प्रकृति-तन्त्र के ऊपर पौरुष-बोध की प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है, ऐसे ही

ऐतिहासिक स्तर पर सामाजिक सभ्यता के ऊपर आध्यात्मिक संस्कृति की प्रतिष्ठा मिलती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष सभ्यता के उत्कर्षापकर्ष पर निर्भर करता है। न इसका यह अर्थ है कि संस्कृति का अन्तरंग रूप सभ्यता के बहिरंग रूप पर निर्भर करता है। इसका इतना ही अर्थ है कि संस्कृति की सुरक्षा और विस्तार सभ्यता की अवस्था पर निर्भर करते हैं।

संस्कृति की देश-काल में वास्तविक सीमाएँ उसके यथावत् सम्प्रेषण की ही सीमाएँ हैं। इसलिए संस्कृति के क्षेत्र और सीमाओं का निर्धारण मूलतः भौगोलिक अथवा जातीय न होकर भाषा एवं अन्य सांकेतिक विधाओं के प्रचलन से ही होता है। संस्कृति की पहचान इस बात से नहीं होती कि वह किसी देश-काल में प्रदत्त किसी मानव समुदाय का सम्बन्धी धर्म है और उसके विस्तार से मर्यादित है बल्कि संस्कृति से ही समुदाय की पहचान होती है। न संस्कृति समाज का कोई आगन्तुक धर्म है कि उसके बदलते रहने पर भी समाज वही बना रह सके। संस्कृति के द्वारा ही समाज परिभाषित होता है जैसे कि मनुष्य की वास्तविक पहचान इसी बात से होती है कि वह किन आदर्शों को चरितार्थ करने में प्रयत्नशील होता है। यद्यपि सामाजिक व्यवहार का परिचय ज्येष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष से होता है, तो भी शब्द प्रमाण के अनुग्रह के बिना उसका अर्थ नहीं समझा जा सकता और न उसकी कोई व्याख्या ही सम्भव है। और यह शब्द व्यापार एक सुनिश्चित साँकेतिक विश्व के अन्दर ही सम्भव है।[२३]

अब तक के विवेचन के कुछ निष्कर्षों को यहाँ संक्षेप में दुहरा लेना आगे के लिए अनुपयोगी न होगा। स्वातन्त्र्यमूलक होने के कारण संस्कृति विज्ञान का विषय नहीं है—सुतरां समाजविज्ञान का भी नहीं।[२४] सांकेतिक अर्थव्यवस्था के रूप में संस्कृति एक सामाजिक परम्परा का रूप धारण करती है और उत्कर्ष की अभीप्सा के रूप में उसकी प्रेरणा विकासात्मक है। इन दोनों ही कारणों से उसमें ऐतिहासिकता अन्तर्निहित है किन्तु यह ऐतिहासिकता मात्र सभ्यता की बहिरंग कारण-कार्य-शृंखला नहीं है, बल्कि मुख्यतः अन्तरंग साधना की द्वन्द्वात्मक क्रमिकता है। संस्कृति में इस प्रकार एक द्वैत है। काल में घटित और विघटित ऐतिहासिक संरचनाएँ उसका बाहरी कलेवर हैं। उसमें अभिव्यक्त अकालिक मूल्यों की चेतना उसका आन्तरिक पक्ष अथवा स्वरूप है। उसका बाह्य पक्ष देश-काल-विशिष्ट सामाजिक परम्पराओं में प्रत्यक्ष किया जा सकता है, अथवा ऐतिहासिक साक्ष्यों से उसका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु आन्तरिक पक्ष इस प्रत्यक्ष अथवा अनुमित परम्परा की सांकेतिकता पर मनन के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है।

संस्कृति और भारतीयता

सार्थक जीवन-विधा के आदर्श नियामक के रूप में संस्कृति को लेने पर

उसका समानान्तर प्राचीन भारतीय शब्द 'धर्म', 'सनातन धर्म' अथवा 'आर्यधर्म' है।[२५] धर्म सनातन और सार्वभौम होते हुए भी देश, काल, जाति, पात्र एवं अवस्था के अनुसार व्यवस्थित होता है। प्राकृतिक प्रवृत्तिमात्र से धर्म नहीं बनता। धर्म एक मर्यादा जताता है जो विवेक से ही पहचानी जाती है। विवेक से मर्यादित जीवन ही पुरुष को प्रकृति की दासता से मुक्त करता है।[२६] इस मुक्ति का अनुसन्धान पुरुष का परम अर्थ अथवा साध्य है। धर्म इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन की साध्य-साधना-व्यवस्था है जो समाज को मर्यादित करती है और जिसके अन्तराल में योग या आध्यात्मिक साधना निहित है। प्रबुद्ध स्वार्थ से संयोजित अर्थ और काम का जीवन भले ही वन्यता और ग्राम्यता से उठकर नागरिक पदवी में पदार्पण करे, किन्तु उतने मात्र से उसे आर्य संस्कृति के अन्तर्गत स्थान नहीं मिल सकता। विवेकमूलक नैतिकता से मर्यादित होने पर ही जीवन धर्म अथवा आदर्शोन्मुख संस्कृति में उन्नति और मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है।

इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार में पशुमात्र की प्रवत्ति देखी जाती है। और इस सन्दर्भ में सहज अथवा अर्जित संस्कारों के द्वारा साध्य-साधन-सम्बन्ध का न्यूनाधिक ज्ञान भी उसमें लक्षित होता है।[२७] इस प्रकार का जीवन मनुष्यों में बुद्धि की शक्ति से अनेक-गुणित और परिमार्जित रूप में देखा जा सकता है। स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित, अर्थ-काम-परायण नीति से संचालित, कर्म और भोग की व्यवस्था को संस्कृति तो क्या प्रकृति भी नहीं कहा जा सकता। प्रकृति में अपनी निजी व्यवस्था होती है जिसका पशु अतिक्रमण नहीं करते। भोग-प्रधान मानवीय व्यवस्थाओं में किसी प्रकार की सहज मर्यादाएँ नहीं रहती हैं, बल्कि राजसिक-तामसिक बुद्धि के प्रभाव से उनमें आन्तरिकता का विकास अज्ञात नहीं है।[२८] उदाहरण के लिए, नात्सी व्यवस्था को क्या कहा जायेगा? वस्तुतः जो बुद्धि मनुष्य को पशु से पृथक् करती है वह मात्र तर्क-बुद्धि नहीं है। तर्क-बुद्धि साध्य का ज्ञान नहीं देती बल्कि दृष्ट साधन मात्र का देती है। मनुष्य की विशेषता उसकी विवेक-बुद्धि से है जो राग-द्वेष का आश्रय लिये बिना साध्य का परिचय देती है। मनुष्य का कर्तृत्व भी उसे पशु से इस बात में वस्तुतः अलग करता है कि उसमें स्वातन्त्र्य है, न कि मात्र इस बात से कि उसमें दक्षता है। मनुष्य की तर्क-बुद्धि उसे साधनों का ज्ञान देती है, उसकी कार्यदक्षता उसे इन साधनों को गढ़ने की योग्यता देती है। इस प्रकार का बुद्धिमत्त्व और कृतिमत्त्व मनुष्य को भोग और ऐश्वर्य प्रदान करता है किन्तु वास्तविक पुरुषार्थ तक नहीं पहुँचता। दूसरी ओर बुद्धिगत विवेक और कर्तृत्वगत स्वातन्त्र्य मनुष्य को प्रकृति से अतीत अपने स्वरूप का आभास देते हैं। भोग के अनुसन्धान में मनुष्य अपने से भिन्न और निचले स्तर के अर्थ खोजता रहता है और यह अनुसन्धान ज्ञान और कर्म, दोनों ही शक्तियों को प्रकृति के अनुकूल बना देने से, प्रकृति की संरचना को प्रतिबिम्बित

करने से एवं उसका अनुकरण करने से ही सम्भव होता है। किन्तु प्रकृति के उपयोग की यह शक्ति मनुष्य की प्राकृतिक दासता को और बढ़ा देती है। "**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।**[२९] इसके विपरीत विवेक-सम्मत अनुसन्धान से पुरुष स्वयं ही अर्थ होता है और इस आत्मोन्मुख साधना में प्रकृति को पुरुष के अनुकूल ढालने की आवश्यकता होती है। पुरुष के अनुकूल प्रकृति का संस्कार, उसका विशोधन अथवा उदात्तीकरण, अन्ततः उसका वशीकरण अथवा अतिक्रमण, इसी को पुरुषार्थ-साधना कहना होगा।[३०] कम से कम, कुछ ऐसी ही व्याख्या पुरानी परम्परा में निगूढ़ है। **अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।**"[३१]

संस्कृति अथवा धर्म की भारतीय अवधारणा उसे कालानुसार व्यक्त किन्तु परमार्थतः सनातन साध्य एवं साधन रूप मानती है। इसीलिए भारतीय परम्परा में नैतिक और आध्यात्मिक साधना संस्कृति की प्राणभूत रही है। इस साधना का मार्ग स्वधर्म के पालन से आरम्भ होकर चरम सत्य के साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति तक विस्तृत है। साध्य-साधन-ज्ञान की यह परम्परा ही मूल भारतीय संस्कृति है। **एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।**[३२]

किन्तु यह भी तो कहा गया है: **सकालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।** तब से और भी समय बीत गया। अब क्या यह आपत्ति युक्त नहीं है कि इस प्रकार की परम्परा या तो अब निर्जीव है, या सम्भवतः अत्यन्त अल्पसंख्यक लोगों में सीमित हो? किन्तु यह नैतिक और आध्यात्मिक परम्परा निर्जीव नहीं है इसका प्रमाण तो इस परम्परा की वर्तमान युग में सर्जनशीलता है। दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस से महात्मा गान्धी और श्रीअरविन्द तक जितनी महान् विभूतियों ने अपने जन्म और कर्म से वर्तमान युग को शिक्षा-दीक्षा प्रदान की है, उसे आश्चर्यजनक ही कहा जा सकता है। अतीत युगों में, राजनीतिक क्रान्तियों और सामाजिक उथल-पुथल की अनिश्चयपूर्ण सदियों में, अथया व्यवस्थाओं की बढ़ती हुई जड़ता की सदियों में, सदा ही सन्तों और महात्माओं की लीलाधारा निरन्तर बहती रही है और अभी भी उसे सूखी नहीं कहा जा सकता। परम्परा की ग्लानि की स्थिति अनेक बार उत्पन्न हुई किन्तु प्रत्येक नयी चुनौती के युग में ज्ञानधारा का एक नया आविर्भाव हुआ और **सम्भवामि युगे युगे** में व्यक्त आश्वासन के साक्षी के रूप में इतिहास से जिरह की जा सकती है। और न सन्तों और महात्माओं को कभी भी जन-जीवन से अलग एक अल्पसंख्यक समुदाय कहा जा सकता है। जिस साधक-मंडली में साधन-परम्परा संरक्षित रही है, वह कुछ थोड़े से लोगों की बात नहीं है। वह समाज के सभी वर्गों में पायी जा सकती है। संख्या की बात भी वास्तव में महत्त्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए शास्त्रीय परम्परा में वाग्गेयकार अल्पसंख्यक होते हुए भी न लोक-संगीत की व्यापकता अस्वीकार्य हो सकती है और न यह कहा जा सकता है कि संगीत की शास्त्रीय और लोक परम्पराओं में

निश्चित सम्बन्ध नहीं है। संस्कृति के सभी क्षेत्रों में लोक-जीवन, प्रतिभा और आलोचनात्मक प्रज्ञा की शास्त्रीय परम्परा, इन तीनों में विविध सम्बन्ध प्रत्याख्येय नहीं हैं। यही स्थिति नैतिक और आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में है। आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाले साधक विरल होते हैं, किन्तु साधना के प्रति औत्सुक्य और सिद्धों के प्रति सम्मान बहुतों में पाया जाता है।

भारतीय संस्कृति को धर्मव्यवस्था, अध्यात्मविद्या और योग के द्वारा परिभाषित करने का यह अर्थ नहीं है कि भारत में अधिकांश जनता वस्तुतः आध्यात्मिक है अथवा रही थी। यूनानी सभ्यता को बुद्धि-प्रधान अथवा आधुनिक सभ्यता को वैज्ञानिक कहने का यह अर्थ नहीं होता कि सब यूनानी अथवा आधुनिक व्यक्ति बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक योग्यता से विशेषित किये जा सकते हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक समुदायों के लिए प्रयुक्त इन विशेषणों की सार्थकता उनके सामान्य आदर्शों के सन्दर्भ में होती है न कि उन समुदायों के सदस्यों की प्रातिस्विक उपलब्धि के सन्दर्भ में। यूनानी संस्कृति में सामान्यतः स्वीकृत जीवन का आदर्श उसके मनीषियों के विचारों में निरूपित मिलता है और उस आदर्श में **थेयोरिया** प्रधान है। ऐसे ही भाग्य-विपर्यय में उनके लिए ज्ञान एवं धैर्य आश्रयणीय थे, न कि श्रद्धा-भक्ति। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि अधिकांश यूनानी व्यक्ति ज्ञानी अथवा जिज्ञासु थे। तो भी उनके समाज में बौद्धिक जिज्ञासा और ज्ञान सर्वोत्तम मूल्य माने जाते थे। जो स्थान बौद्धिक ज्ञान का यूनानी संस्कृति में था अथवा विज्ञान का आधुनिक सभ्यता में है, वही भारतीय परम्परा में आत्मज्ञान का रहा है। आधारभूत ज्ञान के भेद से ही इन परम्पराओं में मानव-धर्म की कल्पना में भी अन्तर आ जाता है।

किसी संस्कृति को बौद्धिकता, वैज्ञानिकता अथवा आध्यात्मिकता के द्वारा परिभाषित करने के विरोध में आपत्ति उठायी जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि ये गुण सभी संस्कृतियों में पाये जा सकते हैं और प्रायः मिले-जुले होते हैं। संस्कृतियाँ भी एकरस नहीं होतीं। न उनकी आन्तरिक अन्विति सर्वथा समंजस होती है। उनमें भिन्न दृष्टियों के समुदाय और परम्पराएँ संगृहीत होती हैं। इन असरूप अवयवों से संस्कृतिरूप अवयवी तक पहुँचने में कल्पना का आश्रय अनिवार्य है। इस कल्पना में संस्कृति के आन्तरिक भेदों की ओर आँख बन्द कर उसके अन्य संस्कृतियों से भेद अतिरंजित कर दिये जाते हैं। यह कहना शायद ठीक होगा कि एक ही मानव जाति के देश-काल में विभक्त इतिहास की निरूपणात्मक सुविधा के लिए उसका नाना संस्कृतियों में विभाजन किया जाता है।

तथ्यमूलक होते हुए भी यह आपत्ति संस्कृति के स्वरूप को ठीक से अवधारित नहीं करती। यह निर्विवाद है कि मानव-जाति की एकता भौतिक है और उसके विभेद आरोपित। मानव संस्कृति की सार्वभौमिकता भी इसी लिए एक

आदर्श सत्य है ।[३३] किन्तु यह सार्वभौमिकता संस्कृति की एकरसता नहीं है । आदर्श एकता यथार्थगत भेदों के वास्तविक एकीकरण से प्राप्त न होकर, उन भेदों में व्याप्त एक अनन्त साम्य के दर्शन से चेतना में व्यक्त होती है । इस प्रकार ऐतिहासिक संस्कृतियों के विभाजन मानव संस्कृति की आदर्श एकता से पूर्णतया समंजस हैं । इसीलिए संस्कृतियाँ जहाँ एक ओर अपने आदर्शों को सार्वभौम मानती हैं, दूसरी ओर वे अपनी सत्ता को एक विशिष्ट समाज अथवा जाति में आधारित करती हैं । सभी ऐतिहासिक संस्कृतियों में आदर्श और यथार्थ की अविस्रब्ध साझेदारी मिलती है । बल्कि यह कहना चाहिए कि उनमें एक आवश्यक अन्तर्द्वन्द्व रहता है । इसी लिए किसी भी संस्कृति का आदर्शपरक निरूपण उसके आधारभूत ऐतिहासिक समाज के यथार्थ का अविकल निरूपण नहीं हो सकता । दूसरी ओर आदर्श और यथार्थ को जोड़ने की नीति सभी संस्कृतियों का आवश्यक अंग होती है । इस दृष्टि से यथार्थ का सामान्य विवेचन भी उनके आदर्श में अन्तर्भूत होता है ।

यद्यपि यह निःसन्देह है कि भारतीय संस्कृति में एक सार्वभौमिकता का भाव अन्तर्निहित है, यह उतना ही निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा में उसकी अन्तर्निहित सार्वभौमिकता अधूरे रूप में ही चरितार्थ हुई है । इसी लिए भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक रूप उसके पूर्ण प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते । किन्तु यथार्थ की इस असरूपता से संस्कृति के आदर्श असत्य नहीं हो जाते हैं । वस्तुतः ये कठिनाइयाँ सभी संस्कृतियों में समान रूप से मिलती हैं ।

मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि इस सन्दर्भ में संस्कृति से भारतीयता परिभाषित है, न कि भारतीयता से संस्कृति । इसी लिए प्राचीन परम्परा में भारतीय धर्म की चर्चा नहीं मिलती, चर्चा मिलती है धर्म अथवा आर्यधर्म की । धर्म आदर्श नियम है न कि रूढ़ि जिसका पता तत्त्-जन-समुदाय के प्रचलन से लगाया जाय । धर्म का मूल मानव प्रकृति की दैवी सम्पत्ति है, मात्र उच्चावच जनाचार नहीं । भारतवासी जन-समुदायों का प्रचलित शील और रुचि भारतीय संस्कृति नहीं है बल्कि उनकी शिष्ट चेतना के द्वारा स्वीकृत मर्यादाएँ और आदर्श ही को उनकी संस्कृति कहना चाहिए जिसका पता प्रत्यक्ष से नहीं लग सकता । कुल, देश आदि जन्ममूलक परम्परा और प्राकृत समुदाचार एक सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं जिसे शिक्षामूलक परम्परा मर्यादित करती है । प्रवृत्ति और समुदाचार नियम्य तत्त्व हैं, ज्ञान नियामक है । अवश्य ही जाति, जनपद आदि के धर्म की सूचना मिलती है और यह स्वीकृत है कि देश, काल, जाति, अवस्था आदि से धर्म अवच्छिन्न होता है ।[३४] वस्तुतः जिन-जिन उपाधियों से मानवीय कर्तव्य अवच्छिन्न होता है, वे सब धर्म में भी विशेषता निरूपित करती हैं । किन्तु इससे धर्म का मुख्य रूप तिरस्कृत नहीं होता । प्राचीन परम्परा में प्रदेशवासिता से निरूपित जनपद धर्म का महत्त्व राजा

के द्वारा व्यवहार-निर्णय में था न कि आदर्श मानव-जीवन के सन्दर्भ में।[३५] देशाचार से अधिक महत्त्व सदाचार का था। यह सही है कि सज्जन या प्रामाणिक व्यक्ति के निर्देश के लिए स्मृतियों में भौगोलिक मर्यादाओं का उल्लेख किया गया है।[३६] किन्तु यह एक लौकिक प्रचलन मात्र का निर्देश है, और उसमें भी मनु ने 'पारम्पर्यक्रमागतः' यह आचार का विशेषण दिया है।[३७] स्पष्ट ही देशमात्र से सज्जन या आर्य का स्वरूप लक्षित नहीं होता। आचार देशवासिता के नाते आर्य-धर्म नहीं है। स्मृतिकारों को जहाँ आर्य-सम्मत व्यवस्था का प्रचलन दिखाई दिया, उस देश का नाम उन्होंने आर्यावर्त रख दिया।[३८]

आर्य शब्द यदि मूलतः देशवाची नहीं है तो जातिवाची भी नहीं है। यह सही है कि आधुनिक विद्वानों में प्रचलित मान्यता के अनुसार आर्य शब्द भारोपीय भाषाओं की मूलभूत भाषा का प्रयोग करने वाली जातिविशेष का वाचक था। किन्तु भारतीय परम्परा में इस प्रकार का अर्थ प्रमाणित नहीं होता। अर्थशास्त्र में 'आर्य' दास का प्रतियोगी है।[३९] आर्य शब्द का आध्यात्मिकीकृत रूप बौद्ध साहित्य में मिलता है जहाँ आर्य पृथग्जन का प्रतियोगी है। अमरकोश में आर्य शब्द सभ्य, सज्जन का पर्यायवाची है।[४०] पुराणों में उपलब्ध आर्य और म्लेच्छ का भेद प्राकृतिक जातियों का भेद नहीं है बल्कि सभ्यताओं का भेद है जोकि समाज व्यवस्था के अनुसार किया गया है। इसी व्यवस्थामूलक भेद को एक भौगोलिक आधार देने का यत्न भी पुराणों में मिलता है। वहाँ एक मध्यवर्ती देश पुण्यभूमि या कर्मभूमि के रूप में माना गया है और उसके चारों ओर प्रत्यन्तभूमि म्लेच्छ-को भूमि कहा गया है।[४१] बौद्ध साहित्य में भी मध्य देश और प्रत्यन्त का सदृश भेद किया गया है।[४२] मध्यवर्ती देश का नाम और सीमाएँ ऐतिहासिक क्रम में बदलती रही हैं। पुराणों में सामान्यतया भारतवर्ष अथवा कुमारी द्वीप को ही चातुर्वर्ण्य एवं चतुर्युगी से लक्षित किया गया है। वही कर्मभूमि है जहाँ स्वर्ग और अपवर्ग के लिए संकल्पपूर्वक साधना सम्भव है। **"पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमिरुदाहृता।"**[४३]

सांस्कृतिक भूगोल का इस प्रकार का विवरण स्वदेशानुशंसा से प्रेरित अर्थवाद ही माना जाना चाहिए। यह बात अलबत्ता सही है कि भारतीय समाज और सभ्यता के अन्य सभ्यताओं से विभाजन को एक भौगोलिक रूप दिया जा सकता है किन्तु ये भौगोलिक सीमाएँ ऐतिहासिक काल में बदलती रही हैं। संस्कृति की प्रक्रियाओं और परिवर्तनों के द्वारा ही इन सीमाओं को समझा जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि सांस्कृतिक साधना द्विस्तरीय होती है। एक स्तर अव्यावहारिक पारमार्थिक मूल्यों का, दूसरा नैतिक-सामाजिक मूल्यों का। व्यावहारिक ऐतिहासिक भूमि में संस्कृति एक भौतिक सभ्यता की संरचना में कढ़ी होती है। और परस्पर-सम्बद्ध संस्कृति और सभ्यता की यह योजना अपनी एक

विशिष्ट भाषा की सांकेतिक व्यवस्था के द्वारा अभिव्यक्त होती है। इन सामान्य सूत्रों को लागू करने पर भारतीय संस्कृति के चार लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं। पहला है आध्यात्मिक स्तर पर अध्याध्मविद्या एवं योग का। दूसरा है नैतिक-व्यावहारिक स्तर पर उस व्यवस्था का जिसे परम्परागत अर्थ में धर्म कहा जाता है। तीसरा है संकेत-व्यवस्था का जिसमें मुख्यतः संस्कृत भाषा, वाङ्मय और प्रतीकात्मक कला को रखा जा सकता है। चौथा लक्षण इनकी अनुबन्धी एक ऐसी भौतिक सभ्यता के रूप में है जिसमें अरण्यवास से नगर-संवास तक की अवस्थाएँ चार युगों के समान एकत्र पायी जा सकती हैं।[४४] न सिर्फ़ भारतीय संस्कृति के इन चार पक्षों में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं बल्कि इन पर्वों की समा-योजना में भी विलक्षणता है। यद्यपि पारलौकिक जीवन का स्थान सभी संस्कृतियों में होता है, उसका प्राधान्य दो ही परम्पराओं में मिलता है—सामी और भारतीय। किन्तु पारलौकिकता के सामी और भारतीय रूपों में बहुत अन्तर है। सामी धर्मनिष्ठा न सिर्फ़ अपने ही सत्य को स्वीकार करती है बल्कि विश्व भर को उसे मनवाने के लिए सन्नद्ध रहती है। उसके लिए प्रमाण है केवल ईश्वर-वचन जिसकी प्राप्ति होती है एक निश्चित ऐतिहासिक पुरुष के द्वारा। ऐतिहासिकता तो सामी धार्मिक जीवन की अवधारणा के साथ-साथ ओत-प्रोत है। भारतीय धार्मिक जीवन में इस तरह के तत्त्व प्रधान नहीं हैं। यहाँ प्राधान्य है साक्षात्का-रात्मक ज्ञान का, योग-साधना का, आत्मज्ञान के आदर्श का। यद्यपि निवृत्ति-मार्गी आदर्श ईसाई धर्म में मिलता है, उसकी मूल प्रेरणा सम्भवतः अशोक के द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म के रूप में भारतीय थी।[४५] निष्ठा की कट्टरता के साथ भारत में सभी को अपने स्वीकृत सत्य का अनुसरण करने की स्वाधीनता रही है। धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार की उदारता भारतीय संस्कृति की एक सुविदित विशेषता है। इस उदारता का मूल संशयवाद या व्यक्तिवाद नहीं था। स्वानुभूति को परम प्रमाण मानने से और अधिकार भेद स्वीकार करने से ही यह उदारता पैदा होती है। सत्य एक होते हुए भी अनन्त है और उसकी उपलब्धि निजी रूप से और अपनी योग्यता के अनुसार ही हो सकती है। **रुचीनां वैचित्र्याद‍ृजुकुटिल-नानापथजुषां नृणान्मेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।**[४६]

आत्मज्ञान के अनुबन्धी नैतिक क्षेत्र में अहिंसा को सर्वोपरि धर्म मानना भी भारतीय परम्परा की सर्वविदित विशेषता है। इसके मूल में जीव की व्यापकता का सिद्धान्त है, जिसका अपलापन कर निवृत्ति-मार्ग में कभी भी प्रवेश सम्भव नहीं माना जाता था। वर्णाश्रम व्यवस्था की विलक्षणता सुविदित है और वह भारतीत समाज के सभी विदेशी और आधुनिक परीक्षकों के लिए एक कौतूहल, रहस्य और विरोध का विषय बना रहा है। यद्यपि आत्मगुण और कर्तव्यभावना के रूप में धर्म आध्यात्मिकता का नित्य अनुबन्धहै, उसकी व्यवस्थात्मक परिभाषा

युगसापेक्ष होने से अनिवार्यतया ऐतिहासिक होती है। यथार्थ में सामाजिक व्यवस्था के बिस्तर भौतिक साधनों और राजनीति के साथ बँधे रहते हैं।

भौतिक सभ्यता के पक्ष की मुख्य विशेषता यही है कि उसमें ऐतिहासिक काल में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए हैं बल्कि उसमें एक आश्चर्यजनक अविच्छिन्नता है जो कि उसके ऐतिहासिक युग-विभाजन को सर्वथा सापेक्ष बना देती है। भौतिक अवस्था और राजनीतिक कानूनी व्यवस्था का इतिहास वर्तमान युग में विशेष रूप से खोज का विषय है।

सांकेतिक व्यवस्था के स्तर पर संस्कृत-भाषा का प्राधान्य निर्विवाद है। बोल-चाल की भाषा न रहने पर भी संस्कृत शिक्षा की भाषा रही है। आधुनिक भाषाओं पर उसकी अमिट छाप है और उसको वह एक व्यापक अन्तःसूत्र के समान जोड़े हुए है। संस्कृत की यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परम्परा समस्त भारतीय संस्कृति में एक चिरन्तन सुनहरे धागे के समान पिरोयी हुई है। सांके-तिकता के अन्य स्तर पर साहित्यिक और कलात्मक प्रतीक विधान है जो कि संस्कृति के मार्गी और देशी पक्षों का समायोजन करता है और आध्यात्मिक, नैतिक अनुभूतियों को मूर्त रूप में सम्प्रेषित करता है। यह प्रतीक-विधान इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं को एक अतीन्द्रिय सत्य के लिए पारदर्शी बना देता है।

अनिवार्यतया ऐतिहासिक होते हुए भी भारतीय संस्कृति में ऐतिहासिकता का बोध कुछ अन्य संस्कृतियों की तुलना में प्रमुख नहीं है। यहूदी, ईसाई अथवा आधुनिक पश्चिमी परम्पराओं में वास्तविक सार्वजनिक इतिहास उनके आत्मबोध में केन्द्रीय स्थान रखता है। उनमें आदर्श जीवन की कल्पना ऐतिहासिक काल में कर्म जीवन की है जिनके साथ शहादत और संघर्ष और जातीय भविष्य की चिन्ता जुड़ी हुई है। उनके लिए इतिहास अनिवर्तनीय क्रान्तियों से गुज़रता हुआ एक सुनहरे भविष्य की ओर बढ़ता है जिसमें आदर्श न्याय प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। भारतीय चेतना में आदर्श जीवन एक प्रातिस्विक, प्रत्यात्मनियत आन्तरिक साधना है जिसकी गति पुनरावर्ती और चक्राकार होती है। सामूहिक कर्म और जातीय नियति इसमें उपेक्षित है। प्राकृ-तिक देशकाल में विस्तार और विजय के स्थान पर अन्तर्मुख निवृत्ति के द्वारा उनके अतिक्रमण के लक्ष्य ने भारतीय चेतना को अधिक आकृष्ट किया है। अलौकिक अर्थ के अनुसन्धान एवं प्रतीकात्मक अर्थ के प्राधान्य ने भारतीय संस्कृति के आत्मबोध को ऐतिहासिक स्मृति अथवा खोज के स्थान पर पौराणिक कल्पना में व्यक्त होने की ओर प्रेरित किया है। फलतः इस सांस्कृतिक आत्म-बोध में एक सनातनता का आभास मिलता है न कि आधुनिक अर्थ में ऐतिहासिकता का।

मूल पौराणिक परम्परा में प्रतीकात्मक आख्यानों के साथ इतिवृत्तात्मक इतिहास की भी एक परम्परा समन्वित थी किन्तु कालान्तर में वह क्षीण हो गयी

एवं गुप्तात्तर काल में पौराणिक परम्परा सर्वथा अनैतिहासिक बन गयी। यद्यपि नये राजवंशों के इतिहास लिखे जाते रहे, पुराने इतिहास का ज्ञान क्रमशः लुप्त होता गया। यही नहीं, मध्यकाल में प्रयत्न से रक्षित पुरानी सांस्कृतिक परम्परा का अधिकांश विनाश के गर्त में खो गया। उदाहरण के लिए तुर्की आक्रमणकारियों के हाथों नालन्दा का महाविहार और उसकी संचित पुस्तक-राशि भस्मसात् हो गयी। १४वीं शताब्दी तक उत्तर भारत अतीत विषयक कितने गहरे अन्धकार में डूब गया था, इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा। फ़िरोज़ शाह तुगलक ने अशोक के दो स्तम्भ अन्य स्थलों से दिल्ली उठवाये थे। उस अवसर पर निमन्त्रित विद्वान् ब्राह्मण इन स्तम्भों के अभिलेख बिल्कुल ही नहीं पढ़ पाये थे।[४७] १९वीं शताब्दी तक यह इतिहास का अज्ञान पुरानी संस्कृति के व्यापक अज्ञान का एक अंश मात्र था। पांडित्य की परम्परा में जितनी सूक्ष्मता थी उतनी ही तब संकीर्णता थी। म० म० सुधाकर द्विवेदी ने अपने बाल्यकाल के एक अनुभव का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने काशी में महाभाष्य के एक ऐसे विद्वान् को देखा जो पृष्ठों पर लिखी हुई संख्याएँ ही नहीं पढ़ सकते थे! ज्ञान की यह दुरवस्था मध्यकाल की सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं के कारण थी। मध्यकाल में विज्ञान की परम्परा भास्कराचार्य के बाद अवनतिशील थी। बौद्ध धर्म के भारत में लुप्त होने के कारण दर्शन की परम्परा में नास्तिकता और बौद्धिकता का विरोधी स्वर तिरोहित हो गया और वैचारिक प्रवृत्ति स्कोलेस्टिक या मात्र लक्षणवादी बनती गयी। सामाजिक विभाजन के कारण ज्ञान का व्यवहार से सम्बन्ध छिन्न हो गया और शासन में सैनिक एवं सामन्ती तत्त्वों की प्रधानता के कारण समाज में ज्ञान का स्थान ही गिर गया।

भारतीय संस्कृति की नयी व्याख्याएँ

अतीत के इस घोर अज्ञान से भारतीय संस्कृति को १९वीं सदी की ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक खोजों ने उबारा। किन्तु पुराने ग्रन्थों, भौतिक अवशेषों और तत्त्वों की इस खोज के साथ ही अतीत की व्याख्या भी एक नयी दृष्टि से आरम्भ हुई। परम्परा में अतीत एक पौराणिक कल्पना मात्र रह गया था किन्तु उसके स्वर प्रामाणिक माने जाते थे। सत्ता और सभ्यता में पराजित होकर भी भारतीय जनता अपने परम्परागत धार्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों में निष्ठा रखती थी। किन्तु जिस नयी शिक्षा ने उन्हें अतीत के तथ्यों को खोजना बताया उसी ने उनकी परम्परा के जो विवरण प्रस्तुत किये वे अतीत के शोधमूलक तथ्यों से पूर्ण होते हुए भी उनकी वास्तविक चेतना की ओर उदासीन थे। पश्चिमी इतिहासकारों को भारतीय सभ्यता के अध्ययन की सार्थकता मुख्यतया इस बात में दीखती थी कि वह मनुष्य के आदिम और पिछड़े युगों के अध्ययन के

लिए शोध सामग्री प्रस्तुत करती थी। उदाहरण के लिए "भारत, वह हमें क्या सिखा सकता है?" इस शीर्षक पर प्रकाशित अपने व्याख्यानों में मैक्समूलर ने यह आपत्ति उठायी है कि 'भारत या तो हमें ऐसी कोई बात सिखा नहीं सकता जो हम नहीं जानते, या फिर जो वह बता सकता है, उसे हम जानना ही नहीं चाहते।[४८] इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि प्राचीन संस्कृत साहित्य हमें आर्यों के आदिम इतिहास एवं आदिम मानव की धार्मिक कल्पनाओं का परिचय देता है। यह मात्र नृतात्त्विक और भाषातात्त्विक जानकारी है जो हमें वेदादि प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन से प्राप्त होती है। एल्फ़िन्स्टन ने अपने भारत के इतिहास में इस बात पर विस्मय प्रकट किया है कि अपनी घोर चारित्रिक कमियों के बावजूद भी हिन्दुओं ने कभी सभ्यता में उत्कर्ष प्राप्त किया।[४९] लुई रेनू और लुई दलावाले पूसें ने आजन्म वैदिक और बौद्ध वाङ्मय की सेवा की किन्तु दोनों ने यह मत व्यक्त किया कि वैदिक और बौद्ध चिन्तन का आधार जादू-टोने से अधिक नहीं था।[५०] प्राचीन साहित्य का इतिहास लिख कर प्रोफ़ेसर कीथ ने भारतीय छात्र-जगत् को अवश्य उपकृत किया किन्तु यह भी फ़ैसला दिया कि वह साहित्य कभी प्राचीन लैटिन साहित्य के स्तर तक भी नहीं पहुँच सका।[५१] फ़र्गुसन ने भारतीय कला का इतिहास लिखा पर उसे पतन का इतिहास बताया।[५२] भारतीय संस्कृति की इस पश्चिमी व्याख्या में संस्कृति और सभ्यता का विवेक नहीं किया गया है। बल्कि सभ्यता का मानदंड पश्चिमी सभ्यता को माना गया और तथ्यों के विवेचन में एक अवमूल्यनात्मक आग्रह प्रदर्शित किया गया है।

अपने पश्चिमी गुरुओं से भारतीय विद्वानों ने सीखी अपने अतीत के तथ्यों की वैज्ञानिक गवेषणा और साथ ही उसकी उपलब्धियों का आधुनिक पश्चिमी मानदंड से मूल्यांकन। किन्तु देशप्रेम ने उनके इतिहास लेखन में एक बात और जोड़ी, और वह थी पुरानी परम्परा की ऐसी व्याख्या जो उसे प्रचलित आधुनिक दृष्टि से निकट ले आये। सबसे अधिक यह बात पुरानी राजनीति की व्याख्या में देखी गयी क्योंकि शायद सबसे अधिक इसी क्षेत्र में पुरानी परम्परा की कमी स्पष्ट थी। इन व्याख्याकारों ने आधुनिक मान्यताओं पर सन्देह व्यक्त नहीं किया, उन्होंने सन्देह व्यक्त किया पुराने लक्ष्यों की पश्चिमी व्याख्या पर और यह दिखाने का यत्न किया कि वस्तुतः तथ्य कुछ और थे। प्राचीन शासन तन्त्र मात्र राजतन्त्र नहीं था, पुराने राजा निरंकुश नहीं थे, इत्यादि।[५३] एक और विषय जिसमें तथ्यों का पुनरन्वेषण किया गया वह था विभिन्न भारतीय जातियों और धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध और इस प्रसंग में एक नयी अवधारणा का आविष्कार किया गया कि भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक या सामासिक है। यह धारणा आज प्रायः सर्व स्वीकृत है और राष्ट्रीय स्तर पर अनुमोदित और प्रोत्साहित है। किन्तु इस प्रसंग में संस्कृति और सभ्यता, धर्म और राजनीति का भेद स्मरणीय है। विज्ञान,

प्रविधि और भौतिक उपादानों के स्तर पर नाना समाजों में आदान-प्रदान अनायास और चिर परिचित हैं। उदाहरण के लिए खगोलविद्या का विकास बाबुली, यूनानी, भारतीय, अरब और पश्चिमी सभ्यताओं के आदान-प्रदान से हुआ। नवाश्मीय और औद्योगिक क्रान्तियों में प्रविधि का विश्व-प्रसारण देखा जा सकता है। वस्तुवैज्ञानिक सिद्धान्तों और प्राविधिक उपकरणों की देशान्तर यात्रा में मौलिक रूपान्तर नहीं देखा जाता। इन साधनों का उपयोग समाज को प्रभावित करता है किन्तु इस क्षेत्र की विषयनिष्ठ चेतना विषयी के आत्मबोध से अधिकांश में अप्रभावित रहती है।[५४] दूसरी ओर अतर्क्य भावों, अनुभूतियों और आध्यात्मिक उपलब्धियों के स्तर पर संस्कृतियों का वास्तविक मिलन अत्यन्त कठिन होता है। भाव-जगत् की भाषा और प्रतीक-व्यवस्था एक निश्चित परम्परा के बाहर अधिकाधिक दुर्बोध हो जाती है। इसलिए सामान्य भाषा के सहारे अपने से भिन्न किसी दूसरी परम्परा के अन्तर्जगत् में प्रवेश करना सदा ही दुष्कर होता है। साहित्यिक अनुवादों की कठिनाई इसका एक उदाहरण है। उसी संस्कृति-क्षेत्र की भाषाओं में अनुवाद सरल होता है, उससे बाहर कठिन। रामायण के भारतीय और विदेशी अनुवादों से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। फलतः इस स्तर पर वास्तविक आदान-प्रदान विरल रूप में ही होता है और मात्र सतही सम्प्रेषण से समन्वय के स्थान पर संकर की आशंका ही अधिक होती है। संस्कृति और सभ्यता के भेद के समानान्तर ही धर्म और राजनीतिक भेद है। धर्म संस्कृति-क्षेत्रीय है और उसमें निष्ठा की निश्चितता एक भूषण है। राजनीति सभ्यता-क्षेत्रीय है और लचीलापन उसकी विशेषता है। परलोकनिष्ठा के रूप में धर्म राजनीति से असंग्लन है पर नैतिक निष्ठा के रूप में वह राजनीति को मर्यादित करता है एवं राजनीति उसके लिए अप्रत्यक्ष रूप से उपकारी होती है। स्वरूपतः धर्म के कारण राजनीतिक संघर्ष सम्भव नहीं है, जब तक धर्म और राजनीति का संकर न हो जैसा कि सामी व्यवस्थाओं में प्रायः देखा जाता है। मज़हबी व्यवस्था को राजनीति का आधार मानने पर असहिष्णुता, हिंसा और सत्ता-लोलुपता रूपी राजनीतिक विकृतियों से धर्म का सम्बन्ध जुड़ सकता है। किन्तु भारतीय परम्परा में आध्यात्मिकता की धारणा अहिंसा और वैराग्य के साथ जुड़ी होने से एवं प्रत्येक समुदाय को स्वधर्माचरण में स्वतन्त्र मानने के कारण जितनी वह सत्ता के संघर्ष की ओर उदासीन थी उतनी ही सत्ता धर्मभेद की ओर सहिष्णु थी। प्राचीन भारतीय परम्परा की इस धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक औदार्य के कारण भारतीय सभ्यता के परिवेश में अनेक विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का सह-अस्तित्व देखा जा सकता है। यद्यपि सभ्यता का यह परिवेश अपने भौतिक रूप में अब अन्तर्राष्ट्रीय होता जा रहा है। किन्तु तो भी सार्वभौम संस्कृति का ऐतिहासिक स्तर पर विकास संस्कृतियों के

पारस्परिक संगम के द्वारा होकर उन पृथक्-पृथक् धाराओं में एक अखण्ड आध्यात्मिक संस्कृति के प्रतिफलित होने के द्वारा ही हो सकता है। परिमाणतः भारतीय संस्कृति मिली-जुली संस्कृति नहीं है बल्कि भारतीय सभ्यता में नाना संस्कृतियों का मेल-जोल देखा जा सकता है। सामासिकतावादी संस्कृति के निर्माण में नाना जातियों का हाथ देखते हैं। वे भूल जाते हैं कि संस्कृति जातियों से नहीं बनायी जाती, बल्कि जातियाँ संस्कृति से परिभाषित होती हैं। सच तो यह है कि यह धारणा कि जातियाँ संस्कृति को बनाती हैं, एक सांस्कृतिक दृष्टिमात्र है। यदि यह धारणा सत्य है तो जातीय अहंकार के कारण स्पर्धा और संघर्ष का अन्त कैसे होगा, यह समझ में नहीं आता। किन्तु हर्ष की बात यही है कि यह दृष्टि भारत में नहीं रही है। फलतः संस्कृति के क्षेत्र में अधिकार-भेद पर आश्रित सम्प्रदायों का नानात्व और स्वधर्म की धारणा पर आश्रित जातियों और समुदायों का सह-अस्तित्व उनके अनुमोदन करने वाले औदार्यरूपी मूल्य के सबसे बड़े प्रमाण हैं जिन्हें अब सर्व-धर्म सम-भाव और समन्वयात्मकता या सामासिकता के नाम से प्रस्तुत किया जाता है। दूसरी ओर नाना समुदायों का सत्ता के लिए संघर्ष सदा ही रहा है और नीति-सम्मत सहभाव भी। इस सहभाव से आनुषंगिक रूप में एक विस्तृत और समृद्ध सभ्यता का निर्माण हुआ है यह निस्सन्देह है; किन्तु संस्कृति की उदारता और सभ्यता की व्यापकता पृथक् तत्त्व हैं और उन दोनों से ही राजनीतिक संघर्षों का अन्त नहीं होता क्योंकि उन संघर्षों का कारण मूलतः धार्मिक होता ही नहीं।

इस विमर्श का निष्कर्ष यह है कि भारतीय संस्कृति की तथाकथित सामासिकता वास्तव में सभ्यता के क्षेत्र में ही लागू होती है और इस क्षेत्र में वह भारत की कोई विशेषता नहीं है।[५५] सभी सभ्यताएँ सामासिक होती हैं जैसे सभी जातियाँ विमिश्रित होती हैं। दूसरी ओर सांस्कृतिक भेद-सहिष्णुता का सामासिकता से स्तरान्तर के कारण सम्बन्ध ही नहीं होता।

पश्चिमी साम्राज्यवादी और राजनीतिक राष्ट्रीयतावादी व्याख्याओं के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की तीसरी प्रमुख व्याख्या साम्यवादियों ने प्रस्तुत की है। डी० डी० कोसाम्बी ने मत व्यक्त किया है कि भारतीय समाज का विकास अनुपूर्व धार्मिक परिवर्तनों से हुआ न कि हिंसा से और इसी कारण वह विकास रुद्ध हो गया।[५६] वैदिककालीन पशुपालक कबीलों से तो समाज आगे बढ़ा पर राजतन्त्र के अधीन कृषिपरक व्यवस्था में आकर अटक गया।[५७] इसके बाद क्रमशः एक सामन्ती व्यवस्था का विकास ही भारत की सामाजिक परम्परा का इतिहास है।[५८] अनेक साम्यवादी इतिहासकारों ने आचार्य की इन मूल स्थापनाओं पर भाष्य एवं वार्तिक लिखे हैं और यह शोधपूर्वक जताने की चेष्टा की है कि कैसे कबीलों के विघटन के साथ वर्ग-समाज और साम्राज्य का विकास हुआ और कैसे साम्राज्य

सामन्तशाही में जर्जरित हुए।

जैसा कि सुविदित है इस व्याख्या पद्धति में संस्कृति का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वह समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र है। समाज-व्यवस्था स्वयं प्राविधिक आर्थिक वस्तुस्थिति से निर्णीत वर्ग-संघर्ष का एक रूप है और इन रूपों का एक सामान्य द्वन्द्वात्मक इतिहास सिद्धान्ततया विदित है।[५९] उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार व्याख्यापक प्रत्ययों की मूल योजना प्रस्तुत हुई है। इन मूल प्रत्ययों का शोधमूलक तथ्यों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक सामान्य इतिहास-दर्शन की आवश्यकता होती है जोकि स्वरूपतः प्रत्यक्षमूलक वस्तुविज्ञान से भिन्न होगा। उदाहरण के लिए समाज को संघर्षरत वर्ग योजना, वर्ग को विशिष्ट आर्थिक समुदाय, धर्म को अन्धविश्वास आदि मानना दार्शनिक कल्पनाएँ हैं न कि ऐतिहासिक तथ्य। दार्शनिक कल्पना अपने में दोष नहीं है, किन्तु जो अन्य दार्शनिक कल्पनाओं को उनके वर्ग स्वार्थ का प्रतिबिम्ब मानते हैं, उनसे दार्शनिक तर्क किस आधार पर होगा ?

समाजशास्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं की चर्चा भी निरर्थक होगी क्योंकि उनके मौलिक मत प्रत्यक्ष वर्तमान पर आधारित हैं, पर संस्कृति अधिकांश में न प्रत्यक्ष है, न वर्तमान तक सीमित। और फिर जो समाजशास्त्र इस समय प्रतिष्ठित है, वह आधुनिक सभ्यता का पुजारी है और चिन्तन पॉज़िटिविज़्म की सीमाओं के अन्दर मर्यादित है।[६०] इस दृष्टिकोण से भारत की प्राचीन संस्कृति का पिछड़ा लगना स्वाभाविक है। वस्तुतः समाजशास्त्र की मनुष्य-विषयक मूलभूत दृष्टि का भारतीय संस्कृति में प्रत्याख्यान ही मिलता है।

कतिपय आधुनिक मनीषियों ने भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा के रूप में व्याख्या की है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति को ही प्रामाणिक माना और उसकी व्याख्या नैरुक्तिक पद्धति से की।[६१] पं० मोतीलाल शास्त्री ने एक दूसरे प्रकार से संस्कृति की वेदमूलता पर प्रकाश डाला।[६२] स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति को वेदान्तमूलक सार्वभौम धर्म बताया।[६३] श्रीअरविन्द ने न केवल भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता का समर्थन किया बल्कि आध्यात्मिकता के अर्थ, विकास, अभिव्यक्ति और विकृति की व्यापक रूप से व्याख्या की।[६४] कुमारस्वामी ने भारतीय संस्कृति के मूल में सनातन विद्या की परम्परा का निर्वचन किया, विशेषतः उसके वैदिक और कलात्मक रूपों का जिनमें आदर्श सत्य को प्रतीकों में व्यक्त किया गया है।[६५] म० म० गोपीनाथ कविराज ने नाना शास्त्रों का उनकी आध्यात्मिक अनुभूति से सम्बद्ध रूप में व्याख्यान किया।[६६] जो बात श्रीअरविन्द ने सामान्यतया कही उसका शास्त्रीय सन्दर्भ में परिष्कृत और व्यवस्थित रूप कविराज जी की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने अनुभूति और सिद्धान्त को सम्बन्धित करते हुए परम्परा की अधु-

नातन जीवन्तता को भी प्रतिपादित किया।

इन व्याख्याओं में यह विश्वास अन्तर्निहित है कि मनुष्य के आत्मज्ञान का सही आधार एक सार्वभौम और सनातन विद्या है जो कि एक प्राचीन सांकेतिक परम्परा के रूप में मानव समाज में रही है। भारतीय संस्कृति में यह निष्ठा उसका मूल सूत्र थी और उसकी साधना का इतिहास ही भारतीय संस्कृति का अन्तरंग इतिहास है। किन्तु इस अन्तरंग इतिहास को सामाजिक-भौतिक इतिहास के सन्दर्भ में रखे बिना भारतीय सभ्यता का उत्थान और पतन ठीक समझ नहीं आ सकता। और न वह अन्तरंग परम्परा ही तब तक ठीक समझी जा सकती है जब तक उसका ऐतिहासिक-सामाजिक परम्परा के माध्यम से अनुशीलन न किया जाय। दीक्षामूलक विद्यापरम्परा और जन्ममूलक कुल, गोत्र, जाति, देश आदि के समुदाचार की परम्परा, दोनों ही द्वन्द्वात्मक रूप से संयुक्त होकर ऐतिहासिक परम्परा का निर्माण करते हैं। अतएव इस ऐतिहासिक परम्परा में अंशतः सनातन सत्य की युगानुकूल व्याख्या और अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। "प्रारम्भ में जो प्रकाशित हुआ था उसमें बीजरूप से पूर्ण सत्य अन्तर्निहित था।...दूसरी ओर, सत्य का अवबोध सदा ही नया करना पड़ता है...सत्य का इतिहास न होने का यह अर्थ नहीं है कि यह असम्भव या अनावश्यक है कि उसके सूत्र सदा स्पष्ट किये जायें, उसके मूल अनुष्ठान सामयिक बनाये जायें, या उसके तत्त्वों का विद्याओं और कलाओं में प्रयोग किया जाय...इन व्याख्याओं और सामयिक परिवर्तनों का इतिहास सम्भव है।"[६७] वस्तुतः सनातन सत्य की ऐतिहासिक परम्परा के दो पक्ष हैं—एक तो मार्गप्रवर्तकों के उपदेश एवं शास्त्र की सैद्धान्तिक परम्परा, दूसरे योग की साधना की परम्परा। यह कहा जा सकता है कि कृष्ण, बुद्ध आदि मार्गप्रवर्तकों में ये दोनों परम्पराएँ मिलकर एक हो जाती हैं, परवर्ती व्याख्याकारों और साधकों में अलग-अलग। अथवा यह कहना चाहिए कि एक अखंड और सनातन विद्या है जो साधना-धारा में खंडशः व्यक्त होती है और बौद्धिक स्तर पर व्याख्यात होकर प्रत्यक्ष सामाजिक परम्परा का निर्माण करती है। वैदिक ऋषियों का धर्मसाक्षात्कार, बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति, कपिल का आसुकि को निर्माण-चित्त के सहारे उपदेश, ये उदाहरण हैं सनातन विद्या की अभिव्यक्ति के जो कि शाब्द अथवा प्रातिभ दोनों प्रकार की हो सकती है। योग इसी प्रकार की अभिव्यक्ति का साधन है। दूसरी ओर याज्ञवल्क्य, बुद्ध आदि के शास्त्र के रूप में संगृहीत उपदेश अन्तर्व्यक्त विद्या की मानसिक व्याख्या से युक्त बाह्य अभिव्यक्ति हैं। उन्हें मूलतः व्याख्या ही कहना समुचित है। यदि विद्या सनातन रूप में परावाक् से अभिन्न है और पश्यन्ती में उसकी साक्षात्कारात्मक अभिव्यक्ति होती है, तो मध्यमा और वैखरी के स्तर पर उसकी बौद्धिक व्याख्या

और लौकिक अभिव्यक्ति माननी चाहिए।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।[६८]

□□

१. तु० "ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति" (ऋ० १. १६४. ४२)।

२. प्रोफ़ेसर रॉबिन्सन द्वारा लिखा हुआ 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (नवम संस्करण) का विज्ञप्ति पत्र।

३. तु० मॉरिस गिन्सबर्ग, 'द आइडिया ऑफ़ प्रोग्रेस' (लन्दन,१९५३), पृ० ४८ "जहाँ तक मैं जानता हूँ अभी तक सामाजिक विकास के और अतएव प्रगति के नियम पता नहीं चले हैं।"

४. उदाहरणार्थ द्र० 'द फ़ांटाना इकनोमिक हिस्टरी ऑफ़ योरोप', जि० ३ (१९७७), पृ० ७ और आगे।

५. टाइलर, 'प्रिमिटिव कल्चर'

६. क्रोबर, 'एन्थ्रोपॉलोजी' (कलकत्ता, १९४८), पृ० ८४१

७. तु० "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" (गीता, १४.३) संस्कार के तात्त्विक स्वरूप पर द्रष्टव्य काणे, 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (अंग्रेज़ी), जि० २, भाग १, पृ० १९०, पादटिप्पणी, ४४८

८. उदाहरणार्थ क्रोबर, पूर्वोद्धृत, ए० २९४; रूथ बैनेडिक्ट, 'पैटर्न्स ऑफ़ कल्चर'

९. तु० क्लुकहोन, 'मिरर फ़ॉर मैन' (लन्दन, १९५०),पृ० २५९ "मूल्य एक प्रकार के सामाजिक तथ्य हैं···सिद्धान्ततः मूल्यों का वैज्ञानिक आधार खोजा जा सकता है।"

१०. इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजवैज्ञानिक अध्ययनों में पद्धतिविषयक मतभेद प्रचूरता से नहीं हैं।

११. मॉर्गन, एन्श्येंट सोसायटी में वर्णित वन्यता, बर्बरता और सभ्यता के त्रिविध विभाजन को गॉर्डन चाइल्ड ने नवीन पुरातात्त्विक सन्दर्भ में पुनः प्रस्तुत किया—द्र० मेरा अध्यक्षीय भाषण, भारतीय पुरातत्त्व परिषद्, १९७८ का धारवाड़ अधिवेशन।

१२. नेहरु, प्राक्कथन, फ़िलियोज़ा, इंडिया (१९६२)

१३. कोठारी आयोग ने अहिंसा और विज्ञान के समन्वय की सिफ़ारिश की थी पर उसे कार्यान्वित करने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया।

१४. इस सिद्धान्त का उपपादन दिङ्नाग एवं कांट, दोनों ने ही किया है। द्र० 'न्यायबिन्दु' के मेरे अनुवाद की भूमिका।

१५. द्र० मेरी 'द मीनिंग एंड प्रोसैस ऑव कल्चर' (आगरा, १९७२), तुलनीय होजेस, 'विल्हेल्म डिल्थाई, एन इंट्रोडक्शन' (लन्दन, १९४४)।

१६. पश्चिमी आदर्शवादी चिन्तन में ज्ञान का इतिहास स्वरूप-ज्ञान की अवस्थाओं से अभिन्न है। उसमें उपाधि और तन्मूलक भूमियों का प्रश्न नहीं उठता।

१७. द्र० मेरी 'मूल्यमीमांसा'

१८. उदा० 'यूक्लिड का रेखागणित' एक मानवीय रचना के रूप में सत्यात्मक मूल्य का एक संकेतमात्र है, जो संशोधनीय रहता है।

१९. अर्थ-निर्वचन पर तु० डिल्थाई, पूर्वोद्धृत, कुमारस्वामी, 'सेलेक्टेड पेपर्स, सं० लिप्सेट, प्रिंसटन, १९७७), जि० २, पृ० २५६ तथा आगे "निरुक्त एज हर्मेनिया"।

२०. न व्यावहारिक इतिहास का कोई निरूपण अद्वितीय होता है, न आदर्श इतिहास का। निरूपित इतिहास बुद्धि के वैशिष्ट्य की अपेक्षा रखता है।

२१. प्रकारान्तर से पहले कहे जाने पर भी शायद यह स्पष्ट करना अनुचित पुनरुक्ति नहीं होगी कि वस्तु से मेरा तात्पर्य मात्र सत् अथवा अकल्पित पदार्थ मात्र अथवा तथ्य मात्र से नहीं है, बल्कि ऐसे पदार्थ से है जिसमें विषयि-भिन्नता, विषयता, कार्य-कारण-भाव की व्याप्ति एव अपना नियत स्वभाव उपलब्ध होते हैं। दूसरी ओर मूल्यों की सत्ता उनको उपलब्ध करने वाले विषयी के विवेक के बिना सिद्ध नहीं होती। वे केवल विषय न होकर एक प्रकार के आत्मबोध से जुड़े रहते हैं। मानवीय स्वतन्त्रता और साध्यता से जुड़े हुए भी वे स्वयं कार्य अथवा कारण नहीं होते। वस्तु-जगत् का उदाहरण मनुष्य निरपेक्ष प्रकृति-जगत् है। मूल्य-जगत् के उदाहरण के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य के जगत् को सोचा जा सकता है जिसे मात्र प्राकृतिक जगत् के साथ अभिन्न शायद ही कोई सोचे।

२२. तु० "संस्कृति वही है जो हम हैं, सभ्यता वह है जिसका हम उपयोग करते हैं।" मैकाइवर, उद्धृत बॉटमोर 'सोशियोलाजी' (१९७९), पृ० १२९, पादटिप्पणी २। श्पेंग्लर में ये दो पक्ष प्राधान्य की दृष्टि से अवस्थाओं में रूपान्तरित हैं। द्र० मेरी 'द मीनिंग एंड प्रोसेस ऑफ़ कल्चर'।

२३. द्र० पीटर विंच, 'द आइडिया ऑफ़ ए सोशल साइन्स' (लन्दन, १९६३)।

२४. यह सही है कि आकस्मिक घटनाएँ भी बहुसंख्यक और पुनरावर्ती होने पर सांख्यिकी के अध्ययन का विषय बनती हैं किन्तु संस्कृति के तथ्य इस प्रकार के भी नहीं हैं।

२५. सनातन धर्म और 'फ़िलोसोफ़िया पेरेनिस' पर तु० कुमारस्वामी, पूर्वोद्धृत, जि० २, पृ० ७, २५५।

२६. तु० म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, भारतीय संस्कृति।

२७ तु० "यथा दंडोधतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीत पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति।"—शंकर, 'शारीरकभाष्य', उपोद्घात

२८. आर्थर कीथ, 'न्यू थियरी ऑफ़ ह्यूमन एवोल्यूशन' जहाँ मस्तिष्क के विकास का हिंसा की वृत्ति से सम्बन्ध निरूपित किया गया है।

२९. भर्तृहरि

३०. याज्ञवल्क्य स्मृति, द्र० मेरा लेख "संस्कृति और भारतीयता", 'पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी अभिनन्दन ग्रंथ'।

३१. तु० मोतीलाल शास्त्री, "सत्तानिरपेक्ष 'संस्कृति' शब्द एवं सत्तासापेक्ष 'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त" (जयपुर, सं० २०१५), प्रस्तावना, पृ० २४, निबन्ध, पृ० ४२-४३।

३२. भगवद्गीता, ४. २

३३. तु० "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा" (यजु० ७. १४), 'शतपथ'(४. २. १. २२-२८) में व्याख्यात ।
महीधर, "संस्कृतिः सोमसंस्कारः विश्ववारा जगदुत्पत्ति-बीजत्वात् यद्वासंस्कृति. समीचीना कृतिर्विश्वैर्देवैर्वरणीया"; दयानन्द, "शिक्षा जनिता नीतिः सर्वेरेव स्वीकर्तुं योग्या ··" विश्ववरणीय प्रथम या मूल संस्कृति सब के लिए आदर्शभूत क्रियाविधान है । लौकिक नानात्व का आदर्श मूल भी एक है ।

३४. "जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्चधर्मवित् । समीक्ष्य कुल धर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ।" (मनु० ८. ४१)
"अन्येकृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे । अन्ये कलियुगे नृणां युगक्षसानुरूपतः ।।"(१. ८५)

३५. कुल्लूक 'राजा व्यवहारेषु तत्तद्धर्मान् स्थापयेत्" (मनु० ८.४१ पर)

३६. उदा० मनु० २.१७-२३

३७. "तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्चते ।" (मनु० २०,१८)
कुल्लूक का कहना है—"पारम्पर्यक्रमागतो नत्विदानीन्तनः ।"

३८. "तस्मिन देशे प्रायेण शिष्टानां सम्भवात्" (कुल्लूक, मनु० २.१८ पर)

३९. अर्थशास्त्र, ३.१३, मज्झिम "योनकम्बोजेसु द्वेव वण्णा अरियो चेव दासो च ।"

४०. अमरकोश २. ७. ३

४१. 'वायुपुराण', ४५. ८२-८६; 'मार्कण्डेय' ५६. १-२; 'मत्स्य', ११४. ५-७, इत्यादि (तु० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'मत्स्यपुराण', पृ० १४०-९१

४२. उदा० 'अभिधर्मकोश', तृतीय कोशस्थान ।

४३. ब्रह्म० २७. २

४४. पुरुषार्थचतुष्टय में नैतिकता, उपभोगिता, उपभोग और आत्मदान के मूल्य संगृहीत हैं । उपर्युक्त चार लक्षणों में चतुर्थ और प्रथम पुरुषार्थों का एवं चतुर्थ लक्षण में द्वितीय एवं तृतीय पुरुषार्थों का समावेश होता है । तृतीय लक्षण पृथक पुरुषार्थ न होने पर भी प्रत्येक के साथ उसकी ज्ञापक-व्यवस्था के रूप में सम्बद्ध है ।

४५. द्र० भंडारकर, 'अशोक'; रायचौधरी, 'भारतवर्ष का प्राचीन राजनीतिक इतिहास'(अंग्रेजी)।

४६. महिम्नस्तोत्र

४७. ईश्वरीप्रसाद 'मेडीवल इंडिया'।

४८. इंडिया, 'ह्वट कैन इट टीच अस', पृ० ५

४९. एल्फ़िन्सटन, 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया' (नवम संस्करण), पृ० २२२

५०. लुई दलावाले पूसैं

५१. कीथ, 'हिस्टरी ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर'

५२. फर्गुसन, 'हिस्टरी ऑफ़ इडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर'

५३. उदा० जायसवाल, 'हिंदू पॉलिटी'; आर० के० मुकर्जी, 'लोकल सेल्फ़-गवर्नमेंट इन एन्शेंट इंडिया'; मजुमदार, 'कार्पोरेट लाइफ़ इन एन्शेंट इंडिया'
अल्टेकर, 'स्टेट एंड गवनंमेंट इन एन्शेट इंडिया'

५४. द्र० मेरा, अध्यक्षीय भाषण, भारतीय इतिहास और संस्कृति परिषद्, १९७८ का दिल्ली अधिवेशन ।

५५. तु० "जिन अनेकों के समन्वय से 'सामासिकता' जन्म लेती है, वे अनेक भाव संस्कृति के भाव कदापि नहीं हैं। अपितु ये अनेक भाव तो सत्तानुबन्धी सभ्यताभावमात्र ही हैं।" (मोतीलाल शास्त्री, पूर्वोद्धृत, पृ० ६)।

५६. 'द कल्वर एंड सिविलिज़ेशन ऑफ़ इंडिया इन हिस्टारिक्ल आउटलाइन' (लन्दन, १९६५), पृ० १६

५७. वही, अध्याय ५-६

५८. वही, अध्याय ७

५९. इस प्रश्न पर साम्यवादी तत्त्वविचारक एकमत नहीं हैं ।

६०. यह उल्लेख्य है कि समाजशास्त्रीय चिन्तन इस समय एक परिवर्तन से गुज़र रहा है ।

६१. स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य ही इस सम्बन्ध में मुख्य हैं ।

६२. द्र० पूर्वोद्धृत ग्रन्थ

६३. अद्वैतमूलक योगचतुष्टय के रूप में उन्होंने उसकी व्याख्या की ।

६४. द्र० 'फ़ाउंडेशन्स ऑव इंडियन कल्चर'

६५. द्र० पूर्वोद्धृत ग्रन्थ एवं अन्य अनेक रचनाएँ

६६. द्र० उनकी 'भारतीय साधना और संस्कृति' में संगृहीत एवं अन्य लेख ।

६७ कुमारस्वामी, पूर्वोद्धृत, जि० २, पृ० ७

६८. ऋक् संहिता १.१६४.४५

दो

'आत्मानं विद्धि'

अध्यात्मविद्या और योग

अपनी खोज और ज्ञान का अर्थ

पुराने विवरण के अनुसार वाराणसी से उरूवेला जाते हुए मार्ग के एक वनखंड में भगवान् बुद्ध को तीस उद्विग्न भद्र वर्गीय युवक मिले। वन विहार के लिए आये हुए उन युवकों के साथ एक वेश्या भी थी जो कि उन लोगों के नशे में होने पर उनके आभूषण लेकर चम्पत हो गयी। उसी को खोजते हुए वे युवक भगवान् बुद्ध से पूछताछ करने लगे। भगवान् ने उनसे कहा—अपने को क्यों नहीं ढूँढ़ते हो ? **अत्तानं किन्न गवेसेय्याथ।**[1]

जिन बाह्य विषयों में हम सुख ढूँढ़ते हैं, वे न सिर्फ़ स्वयं लुप्त हो जाते हैं बल्कि साथ में हमारी संचित सम्पदा भी लूट ले जाते हैं। इस अनिवार्य पुनरावर्ती स्थिति में अवश्य ही प्रत्येक मनुष्य का विवेक उसे अपने आप को खोजने के लिए कभी न कभी प्रेरित करता है। किन्तु किस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य अपने को जानता है, यह एक कठिन प्रश्न है। विभिन्न संस्कृतियों में ज्ञानी की परिभाषा भिन्न रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा में ज्ञानी का मुख्य अर्थ आत्म-ज्ञानी रहा है और उसकी मानस प्रतिमा रही है अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न योगी की, जिसका मूर्त रूप मोहनजोदड़ो की योगी-प्रतिमा से लेकर सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा[2] तक देखा जा सकता है। ज्ञानी की यह प्रतिमा न पुस्तकों के बोझ से दबे हुए शास्त्री की है, न उपकरणों से लैस वैज्ञानिक की। यह प्रतिमा है आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचे हुए जीवन्मुक्त पुरुष की जिसका ज्ञान बाह्य सामग्री पर निर्भर नहीं करता, न भौतिक न सामाजिक। ज्ञानी के दर्शन के अभिलाषी को एक बार रामकृष्ण परमहंस ने मन्दिर के पार्श्व में, ऐसे व्यक्ति की ओर संकेत किया जो पिशाचवत् था और एक कुत्ते से जूठन के ऊपर झगड़ रहा था। उसमें मानो **मूकोन्मत्तपिशाचवत्** अथवा **शुनि चैव श्वपाके च**

इत्यादि लक्षण चरितार्थ थे। आदर्श ज्ञानी शुक अवधूत प्रसिद्ध हैं। दूसरी ओर जनक भी ज्ञानी है।[३] सच यह है कि ज्ञानी बाहर से नहीं पहचाना जा सकता। वह भिखारी भी हो सकता है, राजा भी, पंडित भी हो सकता है, निरक्षर भी, और यह इस लिए कि ज्ञान बाह्य उपाधि है ही नहीं। वह आत्मा का नित्य गुण अथवा स्वरूप है।

व्यवहार में ज्ञान की एक अर्थान्तर प्रसिद्धि है। वह है प्रमाण जन्य अथवा प्रमाणरूपी ज्ञान का।[४] प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति ही व्यवहार का मूल है; यह एक मान्य सिद्धान्त है।[५] किन्तु इस प्रकार का ज्ञान जहाँ व्यवहारोपयोगी होता है, वहीं उसकी एक सहज सीमा होती है। अनुमान प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है और प्रत्यक्ष जिस विषय का ज्ञापक होता है, उसी का कार्य होता है। विषयगत कारण-व्यापार ही प्रत्यक्षगत ज्ञापकता का आधार बनता है। फलतः कार्य-कारण-व्यापार के द्वारा परिभाषित विषयों का ज्ञान प्रमाण से उपलब्ध होता है, और वह व्यावहारिक होता है।[६] किन्तु व्यवहारातीत पुरुष-सत्ता का उससे स्वरूपतः पता नहीं चलता। आत्मा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार के अतीत है और इसी लिए उसका ज्ञान स्वरूप-स्थिति से अभिन्न है।

यद्यपि आत्मज्ञान का संकेत सभी परम्पराओं में मिलता है, उसका इतना महत्त्व-स्वीकार कि सामान्य जनता ज्ञान का मुख्य अर्थ आत्मज्ञान समझे, न कि व्यावहारिक ज्ञान, यह भारतीय परम्परा की एक विलक्षणता है। डेल्फ़ी के मन्दिर पर लिखा हुआ था कि 'अपने को जानो' और सुकरात में आत्मज्ञान का आदर्श भी चरितार्थ था, किन्तु प्लेटो और अरस्तू की प्रसिद्ध यूनानी परम्परा में ज्ञान का अर्थ ठहरा मनुष्य के सामाजिक स्वरूप का तार्किक ज्ञान। बुद्धिगम्य अतीन्द्रिय तत्त्व का ज्ञान आदर्श रूप में स्वीकृत होते हुए भी उसकी सहेतुकता के अभ्युपगम से उसका फलितार्थ शुद्ध गणितविद्या में या द्वन्द्वात्मक तर्क में ही माना गया। यूनानी **फ़िलोसोफ़िया** और **थियोरिया** का यूनानी रहस्य परम्परा से सार्थक सम्बन्ध नहीं बना, सम्बन्ध बना विज्ञान और राजनीति से। ज्ञान की बौद्धिकता के समर्थन ने पश्चिम में ज्ञान को अन्ततः **सम्बन्धज्ञान** के रूप में अवधारित किया। प्लेटो ने ज्ञानी से राज्य के आदर्श संचालन की आशा व्यक्त की है। इसके विपरीत जनक आदि राजर्षि-चरित में राजा से भी आदर्श व्यक्ति होने की आशा निहित है। और आदर्श व्यक्ति की चेतना केन्द्रित होती है ज्ञानघन अथवा शून्यात्मक प्रज्ञा में। उसकी आचारवत्ता सहज होती है, न कि सम्बन्धज्ञान पर आधारित।

मध्यकालीन ईसाई चिन्तन की भी यह मान्यता थी कि अप्राकृत सत्य का ज्ञान मनुष्य को एक निश्चित पुस्तक और उसकी व्याख्या करने वाली ऐतिहासिक परम्परा से ही प्राप्त हो सकता है। शास्त्र में श्रद्धापूर्वक बँधी ईश्वर-

भक्ति ही सामान्य मनुष्य के लिए सन्मार्ग है। आत्मा ही ज्ञान और क्रिया-शक्ति ही मन है और मनुष्यत्व कोई आगन्तुक उपाधि नहीं है बल्कि जीवात्मा का स्वरूप है। मनुष्य का बौद्धिक आत्मज्ञान अतएव भ्रान्त नहीं है, न उसके लिए स्वयं मनुष्योत्तर ज्ञान सम्भव है। विशेष अनुग्रह से मर्त्यों को भी साक्षात्कार प्राप्त होता है। किन्तु उनके वचन शास्त्र की कोटि के नहीं होते। अपरोक्ष ज्ञान के इस प्रकार गौण हो जाने से ज्ञान का मुख्य अर्थ शास्त्र के प्रमाण पर आधारित ज्ञान ही ठहरता है। इस प्रकार का ज्ञान कभी भी व्याख्याकारों के बौद्धिक ज्ञान से पृथक नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शाब्दिक और परोक्ष ज्ञान क्रियोपकारक ही हो सकता है, गुह्यपरम्परा का नित्य परिनिष्ठित ज्ञान नहीं हो सकता। तथ्य यह है कि ज्ञानवाद (**नॉस्टि-सिज़्म**) का ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचुर खंडन किया गया।[७]

पश्चिमी परम्परा के प्राचीन एवं मध्यकालीन, दोनों ही युगों में ज्ञान की कल्पना विषय-प्रधान थी, आत्म-प्रधान या आत्म-रूप नहीं। दूसरी ओर आत्मा की कल्पना मनुष्य के रूप में ही थी। आधुनिक युग में इन दोनों बातों में एक और जुड़ गयी, और वह एक प्रत्यक्षवादी आग्रह। अतीन्द्रिय तत्त्व और उसको जानने में स्वतन्त्रतया समर्थ शक्ति के रूप में बुद्धि का सिद्धान्त सामान्य निष्ठा से प्रायः हट-सा गया। उसका स्थान ले लिया प्रत्यक्ष अनुभूति ने जिसका विस्तार निरन्तर अनुसन्धान से बढ़ाना ज्ञान का आदर्श बन गया। लियोनार्दो दा विंची या **फ़ाउस्ट** में उस असीम विस्तारित ज्ञान का निदर्शन मिलता है। "सब अनुभव एक महराब हैं जिसके अन्तराल से अपर्यटित विश्व झलकता है।" आधुनिक चिन्तन में मनुष्य एक प्राकृतिक विषय होने के कारण, उसका आत्मज्ञान समाजज्ञान में ही समाहित हो जाता है। आध्यात्मिक सत्य की गुह्य परम्परा आधुनिक जगत् में कुछ मनीषियों को उपलब्ध होते हुए भी सामाजिक स्तर पर सर्वथा उपेक्षित है।

पश्चिमी परम्परा के साथ इस संक्षिप्त तुलना में भारतीय संस्कृति की केन्द्रभूत अध्यात्मविद्या की विशिष्टता स्पष्ट होगी। यद्यपि अध्यात्म विद्या की परम्परा मूलतः सार्वभौम है तो भी पश्चिम में वह **ऑर्फ़िक, नौस्टिक** आदि विलुप्त सम्प्रदायों में या एक हार्टआदि ही में किसी अंश तक व्यक्त हुई। वहाँ की मुख्य सामाजिक परम्परा में उसने स्थान नहीं पाया। भारतीय परम्परा में अध्यात्मविद्या की साधना भागीरथी के समान प्रशस्ततर और गम्भीर-तर होती गयी है। उसका मुख्य सूत्र रहा है चेतना का अन्तर्मुख परिशीलन। चेतना में विषय भी व्यक्त होते हैं, विषयी भी। विषयी को एक विशिष्ट विषय न मान कर और विषयों से अलग करने पर उसकी असत्कल्पना से कुंठित हुए बिना उसके चैतन्यमय रूप का निविडतर अनुसन्धान एक टेढ़ी खीर है।[८] पर

वही अध्यात्मसाधना का मर्म है। मानसिक विकल्पों में अथवा उनके विषय में खोये बिना अपने को खोजना, अनुभव-प्रवाह में आभासित आत्मिक चेतना का अनुसन्धान, यही अध्यात्मसाधन अथवा योग है। और इसी की उपलब्धि मुख्य अर्थ में ज्ञान है। इस प्रकार के ज्ञान की खोज ही मनुष्य का परमार्थ है, ऐसे ज्ञान की खोज जो उसे आत्मस्थ कर सदा के लिए काम-कर्म-भोग के चक्र से मुक्त कर देता है। **चैतन्यमात्मा।**[९] **तदाद्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।**[१०]

अपनी खोज जहाँ एक ओर ज्ञान को खोज रही है, वहीं दूसरी ओर अपने स्थायी अस्तित्व को खोज रही है। मृत्यु की अनिवार्य विभीषिका आदिम काल से ही सुपरिचित थी, साथ ही इस बात का आभास भी कि स्थूल देह के पीछे एक सूक्ष्मतर आत्मिक सत्ता है। मृत्यु के बाद परलोक में यह आत्मा बनी रहे और इस प्रकार अमरता प्राप्त हो, इस अभिलाषा की प्राचीनता निर्विवाद है।[११] सभी धार्मिक परम्पराओं में इस परलोक-साधना के रूप मिलते हैं। अन्त्येष्टि-क्रिया और पितृ-पूजा के विविध प्रकारों के अतिरिक्त देवोपासना के द्वारा देव-सालोक्य प्राप्त करने के उपाय एवं जीवन काल में उपयुक्त कर्मचर्या के द्वारा अपने परलोक के जीवन को बनाने के उपाय इस प्रसंग में गिनाये जा सकते हैं। प्राचीन धर्मों में पितृ-पूजा का महत्त्व व्यापक था जब कि तथाकथित उच्चतर धर्मों में कर्म और उपासना के द्वारा स्वयं अपने परलोक की साधना मुख्य रूप से लक्षित होती है। भारतीय परम्परा में दोनों ही महत्त्वपूर्ण रहे हैं। और इन दोनों से अधिक प्रभावपूर्ण रहा है यह विश्वास कि पारलौकिक गति कर्ममात्र पर निर्भर करती है और उतनी ही अनित्य होती है जितनी ऐहिक गति। इस विश्वास से परलोक-साधन-रूपी धर्म अध्यात्म-पर्येषणा के समक्ष क्रमशः गौण हो गया। यह माना जाने लगा कि अमरता का मनुष्य के लिए वास्तविक अर्थ स्वरूपावस्थान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[१२]

प्रचलित ऐकान्तिक परलोकवाद के स्थान पर कर्ममूलक संसारवाद के स्वीकारपूर्वक अमृतत्त्व की आध्यात्मिक व्याख्या ने भारतीय परम्परा को एक अन्यव्यावृत रूप प्रदान किया है। **रेलिजन** शब्द से व्यपदेश्य धर्म अन्य संस्कृतियों में परलोक मार्ग के रूप में व्यवहृत होता है। और यह मार्ग उनमें मुख्यतया एक अथवा एकाधिक देवता की उपासना के रूप में प्रसिद्ध है। भारतीय परम्परा में इस प्रकार का धर्म आध्यात्मिक मुक्ति के धर्म से अवर माना गया जो कि स्वयं ज्ञान और योग से अभिन्न था। मनुष्य की लोकान्तर यात्रा, उसके हेतु, देवतत्त्व, उसकी उपासना, मृत्यु और अमृतत्त्व, ये सभी चेतना के ही अन्तर्गत, उसी के रूपान्तर अथवा विवर्त हैं। स्वतन्त्र वस्तुओं के विश्व में चेतना कोई परतन्त्र धर्म नहीं है बल्कि अशेष वस्तु-प्रविभाग उसी से सिद्ध होता है। वही मूल तत्त्व, मूल देवता, मूल हेतु है। **चितिः स्वतन्त्रा विश्व-सिद्धि-हेतुः।**[१३] इसी लिए

चेतना के अनुसन्धान के रूप में आध्यात्मिकता को भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र कहा जाना चाहिए । "**चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ।**"[१४] "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।**" "**मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेटठा मनोमया ।**"[१५]

साधना की दो दिशाएँ और धाराएँ—प्रवृत्ति और निवृत्ति

चेतना में आपाततः एक विरोधाभास लगता है। एक ओर वह अनन्त आकारों को अपने से अभेद्य विषय के रूप में व्यक्त करती है, दूसरी ओर विषयों से अनाकारित, स्वरूप-हीन साक्षी की तरह वह अपने को अव्यक्तवत् व्यक्त करती है। चेतना को विश्वमयी भी कहा जा सकता है, विश्वोत्तीर्ण भी। उसके अनुसन्धान की एक दिशा है पूर्णता की। दूसरी शून्यता की। पूर्णता की दिशा स्पष्ट ही वेदों में देखी जा सकती है, दूसरी शून्यता की दिशा सांख्य, बौद्ध आदि सम्प्रदायों में। विभिन्न दिशाओं की इन साधनाओं को प्रवृत्ति और निवृत्ति की सनातन धाराएँ कहा गया है, अथवा उन्हें वैदिक और वेदोत्तर, आर्य-आर्येतर, बाह्मण-श्रमण, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैदिक-आगमिक आदि ऐतिहासिक आख्या दी गयी है। स्वरूपतः नित्य सम्भाव्य होते हुए भी सामाजिक परम्परा के रूप में उनका देशकाल निर्धारण उनकी पहचान के लिए आवश्यक होता है। शंकराचार्य ने गीता-भाष्य के आरम्भ में वैदिक धर्म को द्विविध बताया है : प्रवृत्ति-लक्षण धर्म और निवृत्ति-लक्षण धर्म ।[१६] वेद नित्य हैं और उनके द्वारा व्यक्त ये दोनों धर्म के प्रकार-भेद अधिकार-भेद से भिन्न होते हुए सनातन ठहरते हैं। यही धारणा परम्परा-प्रचलित धारणा है किन्तु आदर्श ज्ञान के रूप में वेद को नित्य मानने पर भी एक निश्चित वाङ्मय और उसके अर्थ के रूप में उसे नित्य मानना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता। जब वैदिक वाङ्मय स्वयं ही देशकालांकित है और उसमें वर्णित अर्थों में देशकाल-विभाग का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता, तो स्पष्ट ही वैदिक धर्म को नित्य कह देने से विशेष लाभ नहीं होता। दूसरी ओर यह प्रचलित मत है कि संन्यासपरक साधना बीज रूप में उत्तर वैदिक काल में आरम्भ हुई और वेदोत्तर काल में बौद्ध जैन सम्प्रदायों के प्रभाव से पुष्ट और विस्तृत हुई,[१७] इस ऐतिहासिक धारणा को भी निर्दोष नहीं समझा जा सकता। वैदिक साहित्य को सूक्ष्मता से देखने पर यह लगता है कि उसमें ठीक वैसा भेद नहीं है जैसा कि परवर्ती काल में प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रत्ययों से लक्षित था।

श्रमण परम्परा का मूल

वैदिक साहित्य में जो दृष्टि व्यापक है उसमें कर्मवादी और संन्यासवादी दृष्टियों के आधारभूत द्वैत का अभ्युपगम नहीं मिलता है और न उसके लिए यह

कहना उचित लगता है कि पूर्व वैदिक काल में ऋषियों की दृष्टि जीवन के अभिमुख और उत्तर वैदिक काल में जीवन के विमुख हो गयी है। समस्त विश्व और जीवन दिव्यता के सूत्र में निहित है, यह दृष्टि वेदों में सार्वत्रिक है। दूसरी ओर कर्ममूलक पुनर्जन्म का सिद्धान्त कुछ विरल स्थलों में परिचित होने पर भी व्यापक रूप से वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। जनक-सभा में आर्तभाग याज्ञवल्क्य से पूछता है कि मृत्यु के बाद क्या शेष बचता है। इस पर याज्ञवल्क्य उसे अलग ले जाते हैं और 'कर्म ही शेष रहता है' इस बात को एक रहस्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं![१८] जनक-सभा तत्कालीन मनीषियों से परिपूर्ण थी। उसमें भी कर्मसिद्धान्त का सामान्यतः विदित न होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य के स्वयं यह प्रश्न करने पर कि मृत्यु के पश्चात् किस मूल से मनुष्य जन्म लेता है, कोई भी उपस्थित विद्वान् उत्तर न दे सका।[१९] ऐसा लगता है कि यद्यपि याज्ञवल्क्य कर्मवाद से परिचित थे, उसका याज्ञिक ब्राह्मणों की विद्वत् परम्परा में प्रचार नहीं था। यदि पंचाग्नि विद्या में पुनर्जन्म का सिद्धान्त निगूढ़ माना जाय तो इस बात की ओर संकेत होगा कि क्षत्रियों में उसका परिचय विद्यमान था क्योंकि पंचाग्नि विद्या को ब्राह्मणों की अपरिचित क्षत्रिय विद्या के रूप में उल्लिखित किया गया है।[२०] गीता में उल्लिखित राजर्षि-परम्परा का भी इस सन्दर्भ में मनन किया जा सकता है।[२१] अतः कुछ विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की है कि ब्राह्मणों की प्रतिद्वन्द्वी एक क्षत्रिय परम्परा थी[२२] जिसमें पंचाल राज प्रवाहण जैबलि, देवकी पुत्रकृष्ण, गौतम, महावीर आदि मार्ग-प्रवर्तक गिने जा सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक और भी व्यापक अर्थ में ब्राह्मण और क्षत्रिय परम्पराओं के भेद को भारतीय इतिहास के मौलिक तत्त्व के रूप में बतलाया है।[२३] किन्तु इस प्रकार की जातिमूलक प्रतिद्वन्द्विता या संघर्ष पर्याप्त रूप से प्रमाणित नहीं होते हैं। दूसरी ओर संसार-त्याग की परम्परा का अधिक सम्बन्ध क्षत्रियों से मूलतः न होकर ऐसे परिव्राजक सम्प्रदायों से मिलता है जिनकी सामान्य आख्या श्रमण थी। ब्राह्मण और श्रमण का विरोध एक शाश्वत विरोध के रूप में **महाभाष्य** में दृष्टान्तित किया गया है। ये श्रमण सम्प्रदाय न सिर्फ़ ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे बल्कि वेद-विरोधी होने के कारण नास्तिक कहे जाते थे। स्वयं सांख्य सिद्धान्त की भी नास्तिकता पर्याप्त रूप से संकेतित होती है। वेदान्त सूत्रों में इसी लिए सांख्यीय प्रधान को अशब्द कहा गया है।[२४] यह कहा जा सकता है कि इन सम्प्रदायों की ब्राह्मणविरोधिता या वेदविरोधिता वास्तव में कर्मकांड-विरोधिता का ही परिणाम है। यद्यपि यह सही है कि यह विरोधिता जातीय न होकर सैद्धान्तिक है किन्तु यह सैद्धान्तिक विरोध मात्र अति विरूढ़ कर्म या

कर्मकांड का विरोध नहीं है, न यह अधिकारमूलक कर्म एवं कर्म-त्याग का विरोध है।

नास्तिक शब्द के मूल अर्थों में एक है वेद का अस्वीकार। इसी मुख्य अर्थ में श्रमण सम्प्रदाय नास्तिक थे। परलोक को स्वीकार करते हुए भी वे वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते थे। वेदवाद आध्यात्मिक ज्ञान का मूल अपौरुषेय नित्य शब्द में मानता है। इसके विपरीत सभी श्रमण सम्प्रदाय ज्ञान का मूल प्रत्यात्म अनुभूति में अथवा प्रत्यात्म अनुभूतिमूलक उपदेश की परम्परा में मानते हैं। इस दृष्टि से इन सम्प्रदायों की आध्यात्मिक परम्परा प्रातिभ ज्ञान पर आधारित एवं पौरुषेय उपदेश से विस्तारित थी। शाब्दिक ज्ञान सामान्यतः परोक्ष होता है और क्रियात्मक व्यवहार में उपयोगी होता है। इसी दृष्टि से मीमांसक परम्परा वैदिक उपदेश की विधि-निषेधात्मक कर्म-मार्ग के रूप में व्याख्या करती है। मनु का कहना है कि सभी साधन वैदिक कर्मयोग में समाविष्ट हो जाते हैं। इसके विपरीत आध्यात्मिक अपरोक्ष ज्ञान अपने में सम्पूर्ण होता है। व्यवहारोपयोगी होने के स्थान पर वह व्यवहारोत्तीर्ण अवस्था का प्रापक या द्योतक होता है। चेतना की निश्चल अनन्त शान्ति की ओर उद्दिष्ट श्रमणमार्ग अनन्त दृष्टिमूला सावित्री के आलोक-पथ से आपाततः वैसे ही भिन्न है जैसे रात्रि दिन से। ज्ञान के स्वरूप, मूल और साधना के विषय में बौद्धिक कल्पना और सामाजिक आचार के भेद से श्रमणमार्ग वैदिक मार्ग से भिन्न है, वैदिक कर्मकांड से नहीं अपितु प्रसिद्ध वैदिक ज्ञानकांड से भी।[२५]

इस प्रकार श्रमण दृष्टि को अवैदिक कहना तो युक्तियुक्त होगा किन्तु उसकी यह अवैदिकता किसी वेदोत्तर कालीन कर्मकांड विरोधी आन्दोलन की नहीं है। वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र मुनिश्रमणों के उल्लेख मिलते हैं और यही अधिक सम्भाव्य है कि श्रमणों की अवैदिक धारा वैदिक धारा के साथ-साथ अप्रसिद्ध रूप से प्रचलित थी। उसका ऐतिहासिक स्तर पर उन्मेष वैदिक काल के अन्तिम युग में हुआ।[२६] छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में यद्यपि वैदिक और अवैदिक सम्प्रदायों का भेद नितान्त स्पष्ट था तो भी उस समय तक संसार, मुक्ति, कर्म और निष्कर्म के सिद्धान्त व्यापक रूप से प्रचलित हो चुके थे। और वे वैदिक सम्प्रदायों में उतने ही प्रचलित थे जितने कि अवैदिक सम्प्रदायों में। दूसरी ओर श्रमण सम्प्रदायों ने अपने गृहस्थ उपासकों के लिए एक प्रकार की लौकिक जीवन-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया था। वैदिक सम्प्रदायों में कर्म और नैष्कर्म्य का अधिकार और अवस्था के भेद से समन्वय का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार मूल वैदिक और श्रमण दृष्टियों का विरोध बना रहने पर भी सामाजिक जीवन में सामान्यतया निवृत्ति का उत्कर्ष स्वीकृत हुआ। साथ ही इस व्यवहारगत समन्वयात्मक व्यवस्था के बावजूद प्रवृत्ति और निवृत्ति

का विरोध दो ऐकान्तिक दृष्टियों के रूप में स्वीकृत हुआ। प्रवृत्ति मार्ग भोग-परक और कर्मात्मक रूप में परिभाषित हुआ। उसका सम्बन्ध स्पष्ट ही अनित्य जीवन से होते हुए भी उसमें सत् और असत् का विवेक उद्योतित था। दूसरी ओर निवृत्ति मार्ग अवशेष जीवन का त्याग कर सर्वथा द्वन्द्वातीत कैवल्य का पोषक बन गया। प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो बौद्धिक सूत्रों को लेकर वैचारिक क्षेत्र में नाना प्रकार की रचनाएँ की गयीं। परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति के वैदिक काल के पश्चाद्वर्ती युग में आध्यात्मिक साधना समन्वय और संकर के अनेक अध्यायों से विकसित और विकृत हुई।

मूल वैदिक दृष्टि

चिर काल से वेदों को धर्म के ज्ञान के लिए मुख्य प्रमाण माना जाता रहा है। ज्ञानार्थक वेद शब्द से रूढ़ि द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है ?[२७] यद्यपि आधुनिक विद्वान् मन्त्रों को प्राचीनतर और मौलिक मानते हैं, ब्राह्मणों को उन पर आधारित और व्याख्यात्मक। परम्परा के अनुसार ऋषिगण मन्त्रों के रचयिता न होकर द्रष्टा मात्र थे।[२८] अतः ऋषियों के नामों से अंकित होते हुए भी वेदों को अपौरुषेय माना जाता है। वेदाध्यायी गुरु-शिष्य परम्परा को अनादि और अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित और उसके द्वारा आर्षप्रज्ञा की वेद-रूप उपलब्धि को संरक्षित माना जाता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी श्रुत, उच्चारित, और अधीत होने पर भी वैदिक शब्दराशि स्वरूपतः नित्य मानी जाती है। इस प्रकार परम्परागत धारणा के अनुसार एक निश्चित वाङ्मय होते हुए भी वेद अपने मौलिक रूप में अपौरुषेय और नित्य हैं। वेदों की अपौरुषेयता भी नित्य है। वेदों की अपौरुषेयता का अर्थ है कि उनका कर्ता कोई पुरुष नहीं है। सामान्यतः उनकी रचना, पठन-पाठन और सम्प्रदाय का जो इतिहास मिलता है उसे एक नित्य शब्दराशि का ऋषियों के मानसपटल पर अभिव्यक्त होकर प्रत्यक्ष इतिहास की धारा में आविर्भूत होना समझा जाता है। मीमांसकों का तर्क है कि यद्यपि ध्वनियाँ अनित्य होती हैं, उनके द्वारा पहुँचाये जाने वाले गकारादि वर्ण और गकार औकार आदि क्रम अनित्य नहीं कहे जाने चाहिए क्योंकि "यह वही है," इश प्रकार से उनका प्रत्यभिज्ञान होता है।[२९]

वस्तुतः ये तर्क ठोस नहीं प्रतीत होते। प्राचीन काल में भी इनका बहुतेरा खंडन हुआ था।[३०] अवश्य ही ध्वनि और शब्द एक नहीं हैं। ध्वनि प्रतिक्षण विनाशी भौतिक घटना है, शब्द सांकेतिक आधार है जो कहा जा सकता है, लिखा जा सकता है, जिसका अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा में हो सकता है। किन्तु इससे भाषा आकाश-गर्भ में निलीन, स्वराज्य-प्रतिष्ठित नित्य सत्ता नहीं बन जाती। भाषा को जनमानस के विकल्पात्मक व्यापार से अलग नहीं

किया जा सकता ।[31] कोई एक भाषा और उसकी भी एक नियत वाक्यराशि विशेष रूप से नित्य है, यह मत अपने शास्त्र के गौरव के लिए की गयी कल्पना से अधिक नहीं प्रतीत होता । न वेदाध्ययन की परम्परा को अनादि ही माना जा सकता है । ऋषियों ने मन्त्रों की रचना नहीं की, सिर्फ़ उनका साक्षात्कार किया, इस मान्यता को ऐकान्तिक रूप से स्वीकार करने के लिए उसका प्रचलित होना पर्याप्त प्रमाण नहीं है। अतीन्द्रिय सत्य का साक्षात्कार मन्त्र-रचना में प्रेरक हेतु के रूप में सम्भाव्यतया स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु यह स्वीकार श्रद्धा के आधार पर ही हो सकता है । यह स्वीकार करने पर भी कि ऋषियों ने सत्य का साक्षात्कार किया, यह स्वीकृत नहीं होता कि उन्होंने मन्त्रों का ही यथास्थिति रूप में साक्षात्कार किया । दूसरी ओर मन्त्रों को साक्षात्कृत मानने पर भी उनके प्रतिपाद्य अर्थ सत्य हैं, यह किस प्रकार सिद्ध होगा ।

वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए भी मीमांसकों ने स्वतःप्रामाण्यवाद और शब्द-प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है । इन पर सामान्यतया विचार करना प्रासंगिक होगा । प्रमाणित करने की प्रक्रिया में सन्दिग्ध ज्ञान पर निर्णय ज्ञानान्तर के सहारे किया जाता है । यदि कोई भी ज्ञान स्वतःप्रमाण नहीं है तो प्रमाणित करने की प्रक्रिया ही अनवस्थित हो जायेगी । सामान्यतया दो प्रकार के ज्ञानों के विषय में सन्देह अयुक्त माना जाता है । इनमें एक तो है[32] ऐसा प्रत्यक्ष जो सभी को बार-बार उसी प्रकार से होता है ।[33] किन्तु पहले प्रकार के ज्ञान में प्रत्यक्षगत स्थिर भ्रान्तियाँ भी आती हैं, जैसे सूर्य-चन्द्र का सभी को सदा छोटा दिखना ।[34] और जो विशुद्ध पारिभाषिक लक्षणों पर आधारित तार्किक ज्ञान है, उसमें भी द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोध अविदित नहीं है ।[35] अध्यास-दशापन्न प्रत्यक्ष हो चाहे विशुद्ध तार्किक ज्ञान, दोनों में ही सहज संरचनात्मक भ्रान्तियों का अवकाश रहता है । और इस लिए सन्देह का भी अवकाश रहता है । इस प्रकार के नित्य सन्देह के निवारण के लिए यह मानना अनिवार्य है कि सन्देह को युक्ति के बिना किंचित्कर नहीं मानना चाहिए ।[36] अर्थात् दोष की सयुक्तिक उद्भावना जहाँ नहीं है, वहाँ स्वतःप्रामाण्य को एक अवस्था में अवश्य स्वीकार करना होगा ।

सामान्य व्यवहार में शब्द को प्रमाण माना जाता है, किन्तु पुरुष-सापेक्ष रूप में । उदाहरण के लिए इतिहासकार निष्पक्ष, सत्यसन्ध और तथ्य के साक्षी पुरुष के वचन प्रामाणिक मानते हैं । इस प्रकार शब्द-प्रामाण्य स्वतन्त्र न होकर वक्ता के ज्ञान और चरित्र पर निर्भर करने लगता है । अपौरुषेयत्ववाद वेद को इस पुरुष-परतन्त्रता से मुक्त कर देता है और इस निर्दोष स्थिति में वेदात्मक शब्द की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध हो जाती है । किन्तु शब्द को पुरुषगत दोष से मुक्त करने के इस उपाय से वह पुरुषगत गुण से भी मुक्त हो जाता है !

पुरुष-वाक्य को पुरुष की आप्तता के आधार पर प्रामाणिक माना जाता है, जो वाक्य किसी पुरुष ने स्वयं कहा ही नहीं, उसे किस आधार पर प्रामाणिक माना जायेगा ? कचहरी में या ऐतिहासिक अनुसन्धान में जिस प्रकार सुनी-सुनायी बात अविश्वसनीय होती है, वैसे ही क्या अपौरुषेय श्रुति न होगी ?

किन्तु यदि परम्परागत रूढ़ि को छोड़ कर मीमांसकों का मत देखा जाय तो उसमें एक गम्भीर बात देखी जा सकती है। नैतिक और आध्यात्मिक सत्य, लौकिक प्रत्यक्ष या अनुमान से कभी भी स्थिर नहीं किये जा सकते। प्रत्यक्ष और तर्क से प्रमाणित सिद्धान्त कभी भी ऐकान्तिक या आत्यन्तिक नहीं हो सकते। वे सदा ही अनुभव और तर्क के सापेक्ष होते हैं। लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में अवश्य ही तार्किक निर्णय उपयोगी होते हैं क्योंकि वहाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध निश्चित काल में परखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, कृषि-विज्ञान या कृषि-नीति के सिद्धान्त अनुभव से स्पष्टतया निर्धारित किये जा सकते हैं और उनमें त्रुटिशोधन का अवसर रहता है बल्कि यह कहना चाहिए कि व्यवहार के क्षेत्र में ज्ञान की सर्वदा एक प्रयोगात्मक स्थिति रहती है। मनुष्य ऐसी बातों को मान कर कार्य में प्रवृत्त होता है जिन्हें सम्भाव्य कोटि में रखा जा सकता है और अनुभव से वह उनमें परिष्कार करता है। किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में इस प्रकार का प्रयोगात्मक और सम्भावनात्मक ज्ञान उपयोगी नहीं होता। जिस आचरण का फल अनिश्चित भविष्य में है, कदाचित् लोकान्तर या जन्मान्तर में भोग्य है, उस आचरण का प्रतिपादन सापेक्ष ज्ञान से नहीं किया जा सकता।[३७] मात्र तर्कसंगत या दृष्ट नियम आचार-शास्त्र में स्थान नहीं पा सकते। **अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।**[३८]

परम्परा को वेदों का प्रामाण्य ऐतिहासिक या प्राकृतिक तथ्यों के विषय में अभीष्ट नहीं रहा है; अभीष्ट रहा है नैतिक और आध्यात्मिक सत्य के विषय में। अतीन्द्रिय होने के कारण इस प्रकार के सत्य का ज्ञान लौकिक तथ्य ज्ञान से विलक्षण होता है और इसी लिए उसका साधन या प्रमाण भी विलक्षण होना चाहिए। मीमांसा के दोनों विभाग, पूर्व और उत्तर, इस प्रमाण को अपौरुषेय ही मानते हैं। पूर्व मीमांसक वेद को वर्णनात्मक वाक्यावली न मान कर विधायक शास्त्र मानते हैं। उनके अनुसार वेद का तात्पर्य धर्म-विषयक विधिवाक्यों में ही है, वर्णनात्मक वाक्य विविध प्रकार से अर्थ-वाद होते हैं। वेदान्त के अनुसार वेद का मुख्य तात्पर्य आध्यात्मिक अर्थों की अभिव्यक्ति है। आत्मा के नित्य किन्तु अविषय होने के कारण उसका ज्ञान प्रत्यभिज्ञान ही हो सकता है। आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान शब्द से कैसे हो सकता है, यह एक समस्या है। वेदान्ती इसे हल करने के लिए शब्द की 'जहदजहल्ल-क्षप्राणानाम्' की एक अनोखी शक्ति की कल्पना करते हैं। वे **'दशमस्त्वमसि'** आदि वाक्य का उदाहरण भी देते हैं जिसे

सुन कर अपरोक्ष आत्म-प्रत्यभिज्ञान होता है।[39]

नैतिक विधि में सहज अपौरुषेयता होती है। मित्र का परामर्श या कानूनी आदेश उतना ही स्वीकार्य होता है जितना मित्र का व्यक्तित्व या कानूनी सलाहकार की योग्यता, किन्तु मीमांसकों से भावनातत्त्व के द्वारा सूत्रित नैतिक विधि का प्रेरणा-बल वृत्त-निरपेक्ष और सार्वभौम होता है। यदि इस प्रकार की विधि की किसी अन्तरंग स्वरूप-भाषा की कल्पना की जाय तो वह भी मीमांसकों की अपौरुषेय, नित्य वेदात्मिका वाक् के सदृश होगी। दूसरी ओर अपने को पहचानने की भाषा का पारमार्थिक रूप अन्तःपरामर्श या ज्ञान का स्वरूप-विमर्श ही हो सकता है। नैतिक चेतना की पुकार एवं आत्मा का मूक आह्वान, इन्हीं में वेद का तात्पर्य देखना पुरानी परम्परा का वास्तविक अर्थ समझना होगा। वेदों को युग-विशेष के इतिहास, भूगोल, राजनीति, विज्ञान, अन्धविश्वास आदि का विश्व-कोश मानना, या उनके सामान्य अभिधेयार्थ को **बाइबिल** की तरह अक्षरशः सत्य धर्म-संहिता का ईश्वरीय प्रवचन मानना, उनको ठीक देखना न होगा।[40] वेद तथ्यों की अभिधा नहीं हैं, न प्राकृतिक, न दिव्य। उनका अर्थ लाक्षणिक और सांकेतिक, कर्तव्यपरक और अध्यात्मपरक है। वेदार्थ का बोध व्याख्या-सापेक्ष, निरुक्ति-सापेक्ष है। अनेक स्तरों पर निहित होने के कारण वेद में आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक अर्थ निरन्तर संश्लिष्ट रूप में रहते हैं, और व्याख्याता की योग्यता और अधिकार के अनुसार व्यक्त होते हैं।[41] **बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः।**

सनातन अर्थों की वैदिक सांकेतिकता एक ऐतिहासिक ग्रन्थ-राशि में निगूढ़ है। इतना निश्चित है कि इस वाङ्मय की रचना एक सुदीर्घकाल में नाना व्यक्तियों के द्वारा हुई। किन्तु इस रचना का कोई निश्चित इतिहास उपलब्ध नहीं होता। प्रचलित मत के अनुसार सैन्धव सभ्यता के ढलने के अनन्तर भारत में प्रवेश करने वाली आर्य जाति ने बुद्ध पूर्व की सहस्राब्दी में वैदिक साहित्य की रचना की। किन्तु आर्य जाति अभी तक एक भाषा शास्त्रीय कल्पना है जिसे पुरातात्त्विक सदस्यों से निश्चित रूप से नहीं जोड़ा जा सकता, और सैन्धव सभ्यता की जातीय भाषा अभी तक अपरिचित है। इस स्थिति में वेदों को युद्ध-विक्रान्त आक्रमणकारी आर्य कबीलों की विजयगाथा मानना, जैसा कि यूनेस्को के द्वारा प्रकाशित सभ्यता के इतिहास में किया गया है, उचित नहीं प्रतीत होता। स्वयं ऋग्वेद में आर्यों और दासों का उल्लेख अवश्य है किन्तु उन्हें मानव-जातिपरक मानना न सिर्फ़ परम्परा-विरुद्ध है बल्कि युक्ति-शून्य है। पंडित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने यह विस्तार से सिद्ध किया है कि **ऋग्वेद** में दास और दस्यु का अर्थ देव-विरोधी अमानवीय जाति था, न कि आर्येतर मानव जाति।[42] मैंने स्वयं आर्य शब्द का ऐसा ही विश्लेषण कर के पाया है कि उसका

अर्थ जाति-विशेष न मान कर ऋतजीवी मानव-मात्र मानना चाहिए।

एक ऐतिहासिक जातीय संघर्ष की अप्रामाणिक मान्यता के अतिरिक्त एक अन्य प्रचलित मान्यता है जिसके अनुसार वेदों की व्याख्या आजकल की जाती है। वह यह है कि वैदिक निष्ठा धर्म की अविकसित अवस्था को व्यक्त करती है। 'विकसित धर्म' ईश्वरीय सन्देश से प्रारम्भ होता है और सार्वभौम होता है। उसमें एक अप्राकृतिक सत्य की सूचना होती है। इसके विपरीत वैदिक धर्म प्राकृतिक शक्तियों के काल्पनिक मानवीकरण और दैवीकरण पर आधारित है और सार्वभौम न होकर कबीलाई है। मैक्समूलर ने वैदिक धर्म की यह विशेषता पायी थी कि उसमें भाषा का लाक्षणिक प्रयोग और सजीव कल्पना नाना देवी-देवताओं के आविष्कार के हेतु बनते देखे जा सकते हैं। वैदिक साहित्य में धर्म को मानवीय कल्पना से उपजते हुए देखा जा सकता है और एक ऐतिहासिक कौतुक को निवृत्त किया जा सकता है।

वैदिक धर्म को प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना और उपासना के रूप में एक प्रकार के अन्धविश्वास और अविकसित धार्मिकता का संकर समझना, दो भिन्न प्रकार के आग्रहों का परिणाम है; एक ईसाइयत का, दूसरे वस्तुवादी समाज-विज्ञान का। परन्तु वेदविद्या की प्रामाणिकता उसकी अपनी साधना पर आश्रित है, न कि मनुष्य, ईश्वर और प्रकृति के विषय में ईसाई धर्म या आधुनिक बुद्धिवाद के सिद्धान्तों पर। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अविकसित विज्ञान के प्राचीन समाजों में प्रचलित धर्म भी अविकसित हो। न यह आवश्यक है कि मन्त्र-द्रष्टा अपने आप को ईश्वर का अवतार या सन्देशवाहक बताये। इस पर तर्क-वितर्क करना कि वैदिक धर्म बहुदेववादी है कि एक देववादी है, यह मान लेता है कि देव-सत्ता को संख्यात्मक गुण से विशेषित किया जा सकता है। यास्क की प्रसिद्ध उक्ति है—**महाभाग्याद् देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकत्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।**[४३] तत्त्वतः एक होते हुए भी देवता विश्वरूप है। विभूति-भेद से एक ही ज्योतिर्मय सत्ता में नाम-भेद और स्तुति-भेद देखे जा सकते हैं। तत्त्वविद् नैरुक्त और याज्ञिक देव-तत्त्व में भेदाभेद की प्रतिपत्ति करते हैं। यास्क के शब्दों में **"एतन्नरराष्ट्रमिव"**[४४] जैसे मनुष्य और राष्ट्र एक ही अस्तित्व की द्विविध कल्पना है, ऐसे ही इन्द्रादि नामों से प्रसिद्ध देवतत्त्व एक ही हैं।[४५] देवताओं में चेतन और अचेतन का भेद भी इसी प्रकार से अपार्थक है क्योंकि सीमित और परिच्छिन्न शक्ति के पदार्थों में ही इस प्रकार का भेद किया जा सकता है। वेदान्त सूत्रों में बादरायण ने भी **अनेक-प्रतिपत्तेर्दर्शनात्** कह कर ऐसे ही सिद्धान्त का समर्थन किया है। शंकराचार्य ने इस पर टिप्पणी की है कि जब योगी ही नाना रूपों में अपने को प्रदर्शित करते हैं तो ऐश्वर्ययुक्त देव-सत्ता का क्या कहना है।[४६]

स्पष्ट ही धर्म के तात्त्विक बोध की भारतीय परम्परा में बहुदेववाद और एकेश्वरवाद में मौलिक विरोध नहीं स्वीकार किया जाता। इस बात को कहने का यह अर्थ नहीं है कि वैदिक और परवर्ती धार्मिक परम्परा में किसी प्रकार का विकास नहीं हुआ और सब सिद्धान्त आदि युग में ही परिनिष्ठित और निश्चल रूप में प्रकट हो गये। साधन और सिद्धान्त में इतिहास-सम्बद्ध मानसिक धरातल पर परिवर्तन अवश्यम्भावी है। किन्तु इस परिवर्तन की सही दिशा को आँकने के लिए तात्त्विक अवधारणाएँ उपयोगी होती हैं। देव-सत्ता स्वयं कोई मानसिक विकल्प या सामाजिक मान्यता मात्र नहीं है। देवता अनुभूति-सिद्ध पदार्थ है और उपासना के सन्दर्भ में अर्थ-क्रिया-कारित्व के द्वारा ही लक्षित होता है।[४७] अनुभूति-भेद, व्याख्या-भेद और भाषा-भेद से देवतानुवर्णन नाना प्रकार होता है। इस प्रकार के अनुवर्णन एक सामाजिक परम्परा को जन्म देते हैं और उसके सन्दर्भ में ही विकास का प्रश्न अर्थवान् होता है। भारतीय धर्म के प्रसंग में इस विकास का स्वरूप मिथ्या बहुदेववाद से सच्चे एकेश्वरवाद की ओर जाने का नहीं है बल्कि एक आध्यात्मिक भेदाभेद की अनुभूति का ऐतिहासिक अभिव्यक्ति के स्तर पर बहुधा विश्लेषित और रूपान्वित होना है। इस इतिहास का रूप न सामी धार्मिक इतिहास का रूप है, न नृतात्त्विकों के कल्पित आदिम अन्धविश्वास का। वेद की आधुनिक व्याख्या-पद्धति इतिहास, तुलनात्मक भाषा-शास्त्र और तुलनात्मक धर्मविज्ञान का प्रयोग करती है। इन विधाओं के आधुनिक मूल्याभिनिवेश को यदि छोड़ दिया जाय तो तथ्यानुसन्धान के संदर्भ में इनका प्रयोग निस्सन्देह रूप से वेद विद्या के परिशीलन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सच बात तो यह है कि वेदाध्ययन की परिपाटी का क्रमशः ह्रास होकर पिछली शताब्दी तक उसके प्रायः लोप का प्रसंग उत्पन्न हो गया था। मैक्समूलर के द्वारा सायणभाष्य के सहित ऋक्-संहिता का मुद्रण वेदों को संरक्षित और उपलब्ध कराने के लिए अपूर्व कार्य था। वैदिक भाषा के आधुनिक अध्ययन ने वैदिक व्याकरण पर निश्चित प्रकाश डाला है, जो कि पहले उपलब्ध नहीं था। नाना धर्मों की तुलना सांकेतिक कल्पनाओं के सम्बन्ध में नयी सूझ देती है। **अवेस्ता** का अध्ययन विशेष रूप से वैदिक भाषा और धर्म के साथ तुलनीय ठहरता है। इस प्रकार यद्यपि वेद की आधुनिक व्याख्या उसके गूढ़ और उदात्त अर्थ की ओर सजग नहीं है, तो भी वह उसकी सामान्य भाषा, वाक्यार्थ, तथ्य-सन्दर्भ को समझने की दिशा में महत्त्वपूर्ण साधन प्रस्तुत करती है।

इन साधनों के उपयोग के बिना वेद का कोई भी अध्ययन आजकल सम्भव नहीं है। नवीन व्याख्याकारों के समान ही सायण की मध्यकालीन व्याख्या भी वेदों के आध्यात्मिक अर्थ की जिज्ञासु नहीं है। सायणीय व्याख्या की यज्ञपरकता

मीमांसक परम्परा के अनुकूल है किन्तु उसे मौलिक वेदविद्या से सम्बद्ध मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है । वस्तुतः सायण के बहुत पहले यास्क और पाणिनि के समय में ही वेदों के अर्थ और भाषा का ज्ञान धुँधला गया था ।[४८] वैदिक कर्मकांड, अध्यात्मविद्या और इतिहास के अध्येता अलग-अलग हो गये थे। ऐतिहासिक, नैरुक्तिक, याज्ञिक और आध्यात्मिक व्याख्या-पद्धतियाँ विभक्त हो गयी थीं। किन्तु प्राचीन व्याख्या-सम्प्रदाय सभी काल के प्रताप से लुप्त हो गये। यास्क के निरुक्त में उनके कुछ संकेत मात्र शेष हैं ।

इस प्रकार वेद को समझने के लिए न परम्परागत व्याख्याएँ पर्याप्त हैं, न आधुनिक । एक वर्ग में प्रायः कर्मकांडी आग्रह है, दूसरे में ऐतिहासिक और विकासवादी आग्रह है । किन्तु जहाँ पहले से मन्त्रों के विनियोग का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है, दूसरे से व्याकरणिक रूपों का और ऐतिहासिक तथ्यों एवं सम्भावनाओं का । ये दोनों ही पक्ष वैदिक व्याख्या में समन्वित होकर उपयोगी बनते हैं । किन्तु इनके साथ सर्वोपरि आवश्यकता होती है वेद के निगूढ़ अर्थ की खोज की और वैदिक अभिव्यक्ति की नाना स्तरीयता को पहचानने की । इस दिशा में कुछ आधुनिक अध्यात्मवादी व्याख्याकारों ने पहल की है, जैसे कि श्रीअरविन्द, कुमारस्वामी, कपाली शास्त्री, अनिर्वाण, आदि ।[४९] इन सभी पक्षों की एकांगिता का परिहार कर उनके समन्वय के द्वारा ही वेदविद्या का ठीक परिचय सम्भव है ।

वैदिक वाङ्मय में व्याप्त आध्यात्मिक दृष्टि विश्व की पूर्णता, गतिमयता और वरेण्यता का परिचय देती है । मानवों की मरणशीलता और देवताओं की अमरता, इस लोक की स्फुटता और परलोक की आभास-तुल्यता के विरोध की ठीक अनुभूति करते हुए भी वैदिक मानस ने मृत्यु के ऊपर विलाप करने के स्थान पर जीवन की विभूति का कीर्तन किया है । मनुष्य विश्व की अखंडता में विद्धृत है और विश्व स्वयं देव-शक्ति की विसृष्टि है । विश्व के आन्तर विभाग और गतिशीलता ऋत के सूत्र से व्यवस्थित है । देवता ज्ञानी और शुभावह शक्तियाँ हैं, उनका स्वरूप ज्योतिर्मय है और इस ज्योति के स्पन्दन में ही सृष्टि का रहस्य अन्तर्निहित है ।[५०] ऋत और देव-शक्ति का सहज और नित्य सम्बन्ध है । इसी लिए देवता ऋत-व्रत कहे जाते हैं । सृष्टि का व्यापार एक विप्रथन, व्यवस्थापन, नियमन का व्यापार है जो कि अन्धकार और अव्यवस्था की शक्तियों से विश्व का निरन्तर संरक्षण और विधारण करता है । अनर्थ की कल्पना अनेक रूपों में की गयी है, यथा उर्वरता-रोधक वृत्र, दिति या बन्धन, निर्ऋति या गतिहीनता, अंहः या घुटन, अराति या अदानशीलता, अनृत या असत्य । इसके विपरीत अर्थ या सत्, सुख और शान्ति, ज्ञान एवं पुष्टि का तत्त्व है । देवासुर संग्राम के रूप में सत् एवं असत् का संघर्ष एक सतत संघर्ष

है जिसमें देव-विजय ही सृष्टि की अनुवर्तमानता है।[५१] ऋत के प्रतीक यज्ञ में भाग ग्रहण कर मनुष्य इस नित्य देव-कार्य से जुड़ता है और अभ्युदय का भागीदार बनता है।

इस वैदिक दृष्टि में कर्मठ नैतिक जीवन की ओर मनुष्य के लिए प्रेरणा निहित है। इसी लिए मनु ने उसकी आख्या वैदिक कर्म-योग की है। नैतिक, धार्मिक और सामाजिक कर्तव्य एक व्यापक संस्कार-व्यवस्था के अंग थे जो कि मनुष्यों के लिए देवानुशासन के अनुसरण और उसके द्वारा आभ्युदयिक रायस्पोष के लाभ की साधन-योजना थी। ऋषियों की प्रार्थना थी कि सब ओर से भद्र ऋतु, शुभसंकल्प, उनके पास पहुँचें, देवता उन पर प्रसन्न हों, देवताओं का सख्य उन्हें प्राप्त हो, सुख और सम्पदा के बीच उन्हें देव-निर्धारित आयु का भाग मिले।[५२] माता-पिता और बन्धु के समान देवता मनुष्य के रक्षक, पोषक और पथ-प्रदर्शक हैं। राज-सत्ता के समान वे ऋत-रूपी कानून का रक्षण करते हैं।[५३] उसी व्यवस्था का पालन मनुष्य के लिए आदर्श जीवन का देवोपदिष्ट मार्ग है।

वैदिक दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य, जड़ और चेतन के बीच कोई पारमार्थिक भेद नहीं है। आलोक और अन्धकार, अमृतत्व और मृत्यु, एक ही मूल शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के लिए आवश्यक दो पक्ष हैं : **यस्य छायामृतम् यस्य मृत्युः।**[५४] देव-शक्ति को विश्व-रूपी महाप्राण शक्ति कहा जा सकता है जो अपने छन्द से व्यक्त और अव्यक्त के ध्रुवों के अन्तराल में विकसित और संकुचित होती है।"[५५] **कतम एको देव इति प्राण इति।**[५६] जीवन और मृत्यु के पीछे, व्यक्त रूप और नीरूप अव्यक्त के बीच में, शक्ति का अखंड सूत्र देख सकना ही वैदिक पूर्णत्ववाद का आधार है। जिस चेतना के लिए यह सम्भव है, वह विकल्पभूमि की द्वन्द्वात्मकता से अभी भी खंडित या विभक्त नहीं हुई है। चेतना के आदर्श विकास के क्रम में इस अद्वैत बोध को मौलिक अवस्था कहा जा सकता है। ऐतिहासिक क्रम में इसे वैदिक वाङ्मय में पाना एक कौतूहल की बात है, या वेदों में आदि-मानवीय सहज ज्ञान की परम्परा के प्रतिफलन का द्योतक है। इस वैदिक दृष्टि से समस्त जीवन आनखाग्र स्रष्टा की शुभाशंसा से आपूर्ण है।[५७] अपने नियत स्वभाव के अन्दर सीमित होते हुए भी सृष्ट पदार्थ दिव्यता के प्रतीक हैं। ऋतजीवी मनुष्य के लिए सभी प्रकृति मधुमयी है। **मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।**[५८] उपनिषदों में यही दृष्टि विवृद्ध रूप में मिलती है अथवा यह कहना ठीक होगा कि प्रतीकात्मक कविभाषा में निबद्ध मूल वैदिक दृष्टि उपनिषदों में तत्त्व-विचार की भाषा में निरूपित मिलती है। सभी देवताओं की स्पष्ट प्रतिपादित मौलिक एकता को अब ब्रह्म की आख्या दी गयी है। ब्रह्म न केवल जगत् के स्रष्टा हैं

अपितु उसमें व्याप्त हैं। वह स्वयं विश्व बनते हुए भी विश्वोत्तीर्ण रहते हैं। **पुरुष एवेदां सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**[५९]

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।"[६०]

उपनिषदों में एक ओर तो ब्रह्म को जगत् का मूल कारण बताया है, कर्तृ-रूप भी और उपादान रूप भी, और इस प्रकार सब देवताओं को उसमें समाहित किया है। दूसरी ओर ब्रह्म को मानवीय आत्मा या पुरुष निर्धारित कर उसे परम अर्थ विज्ञापित किया है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**[६१] आदि को ही वेदान्त-सूत्रों में **जन्माद् यस्य यतः** के द्वारा सूत्रित कर के ब्रह्म का सुविदित लक्षण प्रस्तुत किया गया है।[६२] ब्रह्म से समुद्भूत सृष्टि उसी "अक्षर के प्रशासन में रहती है।" वही उसका अन्तर्यामी है।[६३] आत्मा के रूप में वही सब का प्रिय है। **आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।**[६४] जगत् के मूल में स्थित अनन्त सत्ता होते हुए भी ब्रह्म का नेदिष्ठ परिचय आत्मा के रूप में होता है। यदि सद्रूप में ब्रह्म परम कारण और व्यापक है तो चिद्रूप में वह आत्मा से अभिन्न है, और आनन्द रूप में आत्मा का एषणीय पारमार्थिक स्वरूप है। ब्रह्म या देव-शक्ति की यह सच्चिदानन्द रूपता परम्परा में सुविदित है। और वैदिक दृष्टि का धर्म है। **आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।**[६५] **पूर्णमदः पूर्णमिदं।**[६६] **विश्वमिदं वरिष्ठम्।**[६७] इन और ऐसी अन्य श्रुतियों में जीवन और कर्म की ओर एक भावात्मक निष्ठा का तात्त्विक आधार व्यक्त होता है। अपने सहज रूप में मानव चेतना एक अखंड और अनन्त सत्य का सन्धान पाती है। उसके छन्द को अपना कर जीना ही पारमार्थिक जीवन है।

वैदिक दृष्टि में जीवन को सहज भाव में स्वीकार करने का दूसरा पक्ष था उसमें निगूढ़ नियामक सत्य का अनुसन्धान। नाना मानवीय और प्राकृतिक व्यापारों की अधिष्ठात्री देवशक्तियाँ मनुष्य को उपकृत करती हैं और इसी लिए उसका कर्तव्य हो जाता है कि उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक आत्मनिवेदन करे। देवताओं से जो मिला है उसके लिए योग्य प्रत्यर्पण मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। विश्वनियामक ऋत के अनुरूप यज्ञ का विधान भी ऋत ही कहलाता है। समस्त जीवन और प्रकृति एक कर्म-चक्र है जिसमें मनुष्य देवशक्तियों से भावित होता है और उनका अनुभावन करता है। देव-शक्ति से चेतन स्तर पर बने हुए मनुष्य के लिए यह एक नैतिक आवश्यकता है कि वह अपने आपको उस प्रतिमान के अनुरूप साधे जो उसकी चेतना में देव-सत्ता से अभिन्न रूप में प्रतिबिम्बित होता है। **देवनाननुविधा हि मनुष्याः।**[६८] यह अपना त्याग करने के द्वारा ही सम्भव है।[६९] यह त्याग या आत्म-निवेदन ऋत-प्रत्यायक वाक् के आश्रय से ही सम्भव है। यह संकल्प में एकाग्र व्यक्तित्व का इस प्रकार देव-

शक्ति के लिए अर्पण ही ऋत का अनुविधान है। देव-शक्ति के लिए जो सहज विधान है, उसका आनुरूप्य मनुष्य के लिए अनुष्ठानात्मक प्रतीक में व्यक्त होकर यज्ञ कहलाता है। दिव्य भूमि पर ऋत का नित्य साम्राज्य है और वही सृष्टि का मूल प्रतिमान है।[७०] मानवी चेतना के लिए वह एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में प्रतीत होता है। मर्त्य भूमि पर दिव्य नियम की अनुकृति और उसका प्रतीकात्मक स्मरण, दोनों ही यज्ञ में अनुकरणीय आदर्श के रूप में प्रतीत होते हैं। मर्त्य भूमि पर दिव्य नियम की अनुकृति और उसका प्रतीकात्मक स्मरण, दोनों ही यज्ञ में अन्तर्मूल हैं। **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥**

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।[७१]

यज्ञ को **भुवनस्य नाभिः** कहा गया है।[७२] उसे एक कार्मिक बुनाई की योजना या वयुन कहा गया है जिसमें देव-शक्ति के निगूढ़ व्यापार आकारित होते हैं। जन्म से मनुष्य अपने को जिस कर्तव्य-बोध के साथ पाता है उसका अनुपालन, नैतिक बोध का अनुवर्तन ही यज्ञ का व्यापकतम अर्थ है। इसी लिए जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ और कार्य सांस्कारिक अनुष्ठानों से संयोजित किये गये थे ताकि उसकी यज्ञात्मकता का स्मरण बना रहे। कर्तव्यपालन, दान, त्याग और देवोपासना सभी यज्ञ के ही विभिन्न रूप हैं। सबके मूल में चेतना की एक सहज उन्मुखता है कि वह अपने सीमित आत्मबोध को एक अनन्त दिव्य बोध में अर्पित करे। जो आत्मबोध मनुष्य ने देव-कृपा से पाया है उसमें एक अपार्थ पूर्णता की अभीप्सा है जिसके लिए त्याग एक नैतिक अपेक्षा रहती है।[७३]

यह देवताओं को स्वार्थ-साधन के लिए घूस देने का प्रयत्न नहीं है। न वह व्यापारिक लेन-देन है, और न वह प्रकृति के नियमों के अज्ञान से प्रेरित मिथ्या या जादुई कार्य-कारण-भाव की कल्पना है। प्रकृति का कार्य-कलाप एक दिव्य यज्ञ के अन्तर्भूत है, न कि मानवीय प्रतीकात्मक यज्ञ है। मानवीय यज्ञ की कार्य-समर्थता भी भाव-सापेक्ष देवानुग्रह पर ही प्रतिष्ठित होती है। वह कोई मानवीय कर्म की स्वतन्त्र कारणता नहीं है। **क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।** इस सम्बन्ध में यह कहना अयुक्त न होगा कि यज्ञ की आधुनिक अपव्याख्याओं के समान ही रूढ़िग्रस्त कर्मकांडी व्याख्याएँ भी अनेक अंश में अश्रद्धेय हैं। देवता के लिए द्रव्य-त्याग के रूप में परिभाषित यज्ञ का सार देवता के लिए त्याग है, न कि द्रव्योपादान या द्रव्य-विनियोग। द्रव्य का महत्त्व उसी स्तर पर है जहाँ मनुष्य का आत्मीयता-बोध स्वत्व के भाव से आक्रान्त है। इसी लिए अन्तर्यागात्मक उपासनाओं में द्रव्य का स्थान प्रतीक ले लेते हैं।

प्रारम्भिक युग में यज्ञ विधान की परम्परा सरल थी। होता देवता का

आवाहन करता था और अध्वर्यु कर्म का प्रबन्ध करता था। जहाँ सोम का प्रयोग होता था वहाँ उद्गाता साम-गान करता था। क्रमशः इन ऋत्विजों की संख्या यज्ञ की जटिलता के साथ बढ़ती गयी। यज्ञ-विधान काल-चक्र के साथ भी बँधा था। अग्निहोत्र प्रातः-सायं कर्तव्य था। दर्श और पूर्णमास पाक्षिक इष्टियाँ थीं। ऋतुओं के अनुसार चातुर्मास्य का विधान था। सोम-यज्ञ दीर्घ-कालीन और बहुत आयोजन के साथ भी किये जाते थे।[७४] इस विस्तार और जटिलता के दो पक्ष देखे जा सकते हैं। एक ओर तो उसके स्पष्ट ही सामाजिक कारण थे। राजाओं के वैभव और ऋत्विजों की लिप्सा का हाथ अवश्य ही इस विस्तार में देखा जा सकता है। दूसरी ओर कार्यविभाजन के द्वारा सूक्ष्म विस्तार का आपादन एवं उसकी व्याख्या के प्रसंग में नूतन प्रतीकात्मक अर्थों का आविष्कार और रूप-विधान एक स्वतः वर्धमान प्रक्रिया थी। इस प्रक्रिया के भी दो पक्ष अलग-अलग देखने चाहिए। एक तो यह कि धार्मिक कृत्य के भाव-सघन वातावरण में प्रविष्ट सभी तत्त्व विशेष रूप से अर्थवान् प्रतीत होते हैं। इस अनुभूति के साथ ही साथ दूसरी ओर बौद्धिक मन्थन उनके विषय में विधि-निषेध और व्याख्याओं का पल्लवन करता है।

बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।[७५]

कर्मकांड का इस प्रकार का बौद्धिक पल्लवन यथार्थ आध्यात्मिकता से हट कर ऐन्द्रजालिक भ्रान्तियों एवं अन्धविश्वास की ओर ले जाता है।

उत्तर वैदिक काल में याज्ञिक जटिलता के विस्तार का यह अर्थ नहीं था कि मूल आध्यात्मिक साधना उसमें लुप्त हो गयी। राजकीय प्रश्रय में पुरोहितों के विश्व से अलग अरण्यवासी विचारकों में उस आध्यात्मिक साधना का एक नया रूप विकसित हुआ। जहाँ राजपुरोहित अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञों को ऐहिक कामना-पूर्ति के लिए विस्तार कर रहे थे, वहीं आरण्यकों में विशुद्ध प्रतीकात्मक उपासनाओं का विकास हुआ। यज्ञ में द्रव्य और कर्म से अधिक महत्त्व सांकेतिक अर्थों का है, इस विश्वास पर आधारित होने के कारण ये उपासनाएँ विद्याएँ कहलायीं। इनमें जानना ही प्रधान था, द्रव्य और कर्म का स्थान अत्यन्त अल्प। उदाहरण के लिए आरुणकेतुक-चयन में मात्र जल का ही प्रयोग होता है। सावित्रचयन में सौर रहस्य का प्रतीकों के द्वारा ज्ञान ही मुख्य है।[७६] और आगे बढ़ कर विद्या या उपासना का सम्बन्ध बहिर्याग एवं अग्निचयन से छूट गया। उपनिषदों में ब्रह्म की नाना उपासनाएँ निर्दिष्ट मिलती हैं। प्रतीकोपासनाओं में ब्रह्म की किसी उपाधि को ब्रह्म से अभिन्न मान कर ध्यान किया जाता है।[७७] सामान्यतया सगुणोपासनाओं में किसी गुण या रूप के द्वारा ब्रह्म पर मन लगाया जाता है। गुण-व्यावृत्ति के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की उपासना सम्भव मानी जाती है। पर यह उपासना या ध्यान का मार्ग विचार-

मार्ग से भिन्न समझा जाता है। विचार ज्ञान की प्रक्रिया है। उपासना सूक्ष्म मानसिक कर्म है। ज्ञान वस्तु से निर्धारित होता है, उपासना कर्ता के अधीन होती है। **वस्तुतन्त्रं भवेज्ज्ञानं कर्तृतन्त्रमुपासनम्**[७८] विचार और उपासना का क्या सम्बन्ध है, उपासना आवश्यक है या नहीं, अथवा विचार पर्याप्त है या नहीं, इन प्रश्नों पर परवर्ती वेदान्त में बहुत चर्चा हुई। प्रायः यह स्वीकृत किया गया कि उपासना से मन सफल विचार के लिए तैयार होता है। प्रायः यह अन्ततोगत्वा ज्ञान विचार से प्राप्त होता है किन्तु इस अवस्था के लिए मन की शक्ति, कर्म और वासना का उचित परिपाक आवश्यक है। इस परिपाक की ओर उपासना सहायक होती है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन का क्रम यह सूचित करता है कि उत्तम अधिकारी श्रवणमात्र से ज्ञान प्राप्त करता है, मध्यम अधिकारी श्रवण के अनन्तर विचार से और अधम अधिकारी विचार के द्वारा निश्चित किये गये तत्त्व के ध्यान के द्वारा। किन्तु शायद यह मानना अधिक ठीक होगा कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन का क्रम एक सहज और आवश्यक क्रम सूचित करता है। श्रवण से परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, मनन से उसमें शंकाएँ निरस्त होती हैं और एक स्थिर निष्ठा बनती है। तो भी अपरोक्ष ज्ञान तब तक आविर्भूत नहीं होता जब तक ध्यान से निश्चल अवस्था में मन स्थिर नहीं होता है। इस प्रकार श्रवण-मननादि के क्रम में उपासना विचार की उपकारक न होकर विचार ही उपासना का उपकारक सिद्ध होता है। यदि विचार का अर्थ युक्तियों से तत्त्व का उपपादन और अतत्त्व का निरास है तो वह ज्ञान का समानान्तर कारण नहीं बन सकता। दूसरी ओर यदि विचार का अर्थ युक्ति-प्रयोग से भिन्न आत्म-प्रत्यभिज्ञान की ओर मन की चेष्टा हो तो उसे ज्ञान की पूर्वावस्था ही मानना होगा। ऐसे ही भावनात्मक ध्यान अवश्य क्रियात्मक है किन्तु उसका परिणाम मन की निश्चलता होना चाहिए और उस स्थिति में विषय-परिच्छेद का स्वतःस्फूर्त प्रज्ञा के द्वारा निगरण होना ही अनुभूति-सिद्ध है।

यद्यपि यज्ञ का मर्म आध्यात्मिक यज्ञ है, जिसे कि अन्तर्याग कहा जाता है तो भी उसकी बाह्य आधिभौतिक रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक थी। यज्ञ मुक्ति के लिए आन्तरिक ध्यान मात्र नहीं था। वह समस्त जीवन में देव-शक्ति के प्रति चेतना की कर्मठ अनुकूलता भी थी। वैदिक यज्ञ-साधना कर्मयोग का मूल रूप था। वह सिर्फ़ भोग के लिए कर्म का उपदेश नहीं था। अपितु योग-साधना थी जो कि समस्त जीवन को चरम पुरुषार्थ की ओर शेष पुरुषार्थों को हेय समझे बिना ले जाने का मार्ग है। ब्राह्मणों में तथा उपनिषदों में यह इतना ही स्पष्ट है जितना कि ऋक् संहिता में। **अस्यवामीय** और **पुरुष** सूक्तों में जिस देवकृत यज्ञ का उल्लेख है, वही **नासदीय** सूक्त में सृष्टि के मूलभूत तप के

रूप में उल्लिखित है।[७९] ब्राह्मणों में मर्त्य-लोक के यज्ञ-विधान को इस दिव्य यज्ञ के मूल और विराट् रूप की अनुकृति के रूप में व्याख्यात किया गया है।[८०] उपनिषदों में विद्या की आन्तरिकता के साथ शील के औचित्य की बात निरन्तर कही गयी है। आचार-शुद्धि के बिना प्रज्ञामात्र से आत्म-ज्ञान सम्भव नहीं है।[८१] **छान्दोग्य** में घोर आंगिरस का कृष्ण देवकी पुत्र को उपदेश जीवन मात्र को यज्ञ बताता हुआ गीता के उपदेश की स्पष्ट पूर्वपीठिका है।[८२] यही भाव **ईशोपनिषद्** में मिलता है।[८३] **कठोपनिषद्** में स्पष्ट ही कहा गया है कि दुष्चरित से विरत हुए बिना आत्मज्ञान सम्भव नहीं है।[८४] उपनिषदों का अभिमत शील-चर्या कर्म का स्वीकार है, न कि प्रत्याख्यान। उपनिषदों के ऋषि और मनीषी याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेतकेतु, जनक, अश्वपति, अजातशत्रु और प्रवाहण गार्हस्थ्य और काजकार्य में संलग्न मिलते हैं। वे गृहत्यागी संन्यासी नहीं हैं। यह सही कि याज्ञवल्क्य और सनत्कुमार लौकिक सुखों की परिच्छिन्नता की ओर संकेत करते हैं और आत्मा के असीम साम्राज्य को मनुष्य का लक्ष्य बताते हैं।[८५] किन्तु वे सीमित जगत् और असीम सत्य में मौलिक एकता देखते हैं, सत्ता की भी और साधना की भी। व्यष्टि चेतना और विराट् ब्रह्मांड में कोई पार्यन्तिक पार्थक्य नहीं है। इसी लिए जहाँ कहीं मनुष्य सुख ढूँढ़ता है, जो भी उसकी एषणा है, वह अस्पष्टतया आभासित आत्मा के लिए ही होती है। सीमित जीवन में असीम की छाया मिलती है, वह अत्यन्त हेय पदार्थ नहीं है। उसमें पुरुषार्थता है, भले ही वह अवरजातीय हो। **उसकी** सीमितता ही **असीम** की ओर संकेत करती है। यदि उनमें, सीमित और असीम में, मौलिक अन्विति और संकेत न मिलते तो उपासना की पद्धति का कोई अर्थ ही न होता। इसी एकता के सहारे जनक और कृष्ण का कर्मयोग कर्म-मात्र को योग में परिवर्तित कर सकता है।

वैदिक दृष्टि के इस निरूपण के विरोध में यह कहा जा सकता है कि यह उत्तरवैदिक धारणाओं को पूर्ववैदिक धारणाओं की व्याख्या के लिए उपयोगी मान कर काल-क्रम की अवहेलना करती है। प्रोफ़ेसर ख़ोंडा ने, उदाहरण के लिए, अपने हाल में प्रकाशित, वैदिक साहित्य के इतिहास में सभी मौलिक भारतीय व्याख्याओं को काल-विपर्यासी (**एनाक्रॉनिस्टिक**) कह कर उपेक्षित किया है।[८६] वस्तुतः यह तर्क स्वयं विनिगमक नहीं है। उत्तरवैदिक कालीन ऋषियों की बात पूर्ववैदिक कालीन ऋषियों की बात के लिए उपयोगी है या नहीं, यह केवल काल-भेद से निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि सम्प्रदाय के अविच्छिन्न होने पर काल का अन्तराल पुरानी बात के संरक्षण में सर्वथा बाधक नहीं होता। सम्प्रदाय के अन्दर विकास होते हुए भी मूल दृष्टि का संरक्षण प्राथिक है। वैदिक युग के बाद के काल में अवश्य ही भाषा में बहुत

परिवर्तन के कारण पूर्व वैदिक युग की भाषा दुर्बोध हो गयी है किन्तु ब्राह्मण-काल में ही सम्प्रदाय-विच्छेद की कल्पना प्रमाणित नहीं है। धारणाओं में, शब्दों में, अनुष्ठानों में अवश्य ही अन्तर आया। जटिलताओं और विस्तार, सूक्ष्मता और परिष्कार, परम्परागत विकास के सामान्य अंग हैं। किन्तु यह मानना कि आध्यात्मिकता का जन्म ही उपनिषदों में हुआ और उसके पहले बाह्य कर्म-कांड-मात्र था, असिद्ध है। यदि सायण संहिताओं और ब्राह्मणों को यज्ञपरक ही मानते हैं, तो यह भी स्मरण रखना होगा कि वह उपनिषदों को परवर्ती नहीं मानते। वह शंकर की तरह वेद के कर्मकांड और ज्ञानकांड को दो नित्य विभाग मानते हैं। नित्य न मानने पर भी इन दो को मात्र कालिक विभाग तो नहीं माना जा सकता। न संहिता और ब्राह्मण भागों को पूर्व वैदिक और उत्तर वैदिक कहा जा सकता है। पुरुषसूक्त संहितागत होते हुए भी अर्थतः ब्राह्मणों और उपनिषदों के निकट है। **बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण** का भाग है, **ईशोपनिषद्** वाजसनेयी संहिता का। स्पष्ट ही वैदिक साहित्य में काल-क्रम का निर्धारण विषय-मात्र से या शैलीमात्र से नहीं हो सकता। न विषय और शैली का वैविध्य काल-भेद का निश्चित द्योतक है। भाषा का भेद काल-भेद अवश्य दिखाता है, पर उससे सम्प्रदाय विच्छेद आवश्यक रूप से सिद्ध नहीं होता। इस स्थिति में काल-व्यत्यास की चर्चा विशिष्ट तर्कों पर ही आधारित होनी चाहिए, सामान्य कल्पित नियमों पर नहीं।

सच तो यह है कि वैदिक साहित्य में एक अविच्छिन्न विकास देखा जा सकता है जिसमें आध्यात्मिक दृष्टि के समान होते हुए भी चिन्तन, साधन और अभिव्यक्ति में समृद्धि देखी जा सकती है। देवताओं में नाम-रूप के भेद के होते हुए भी स्वरूप-सादृश्यमूलक अभेद प्रारम्भ से ही लक्षित होता है। यज्ञ-विधान के प्रसंग में इस मूल देव-शक्ति की प्रजापति के रूप में कल्पना उभरी। उपनिषदों में देव-शक्ति की प्राणरूपता स्पष्ट प्रतिपादित की गयी और एकवचन में प्रयुक्त 'देव' शब्द पुरुष या ईश्वर से अभिन्न समझा गया। ऐसे ही यज्ञ के जिस आधिभौतिक रूप का उल्लेख मन्त्रों में मिलता है, उसके साथ ही ऋत के प्रतीक के रूप में उसकी महिमा भी मिलती है। यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्याग की प्रक्रिया तब सर्वथा अविदित थी।[८७] सच तो यह है कि आन्तरिक और बाह्य का विरोध प्राचीन ऋषियों की सहज चेतना में उभरा हुआ नहीं था। इसी लिए तब अन्तर्याग और बहिर्याग के भेद का अनुल्लेख अप्रत्याशित नहीं है। जब ब्राह्मणों में बौद्धिक विश्लेषण व्यक्त होता है तो यज्ञ के बाह्य तत्त्वों और उनके पृथक् अर्थों के भेद के साथ प्रतीकात्मकता और रहस्य की अवधारणा भी जन्म लेती है। और इसी प्रकार बहिर्याग के समानान्तर अन्त-र्याग और विद्या की धारणा सामने आती है। इन विद्याओं से ब्रह्मविद्या अथवा

आत्मविद्या की ओर गति एक सहज विकास है। आरम्भ में नाना रूपधारी देवताओं में परम तत्त्व की उपासना और अन्त में एक परम तत्त्व में सभी नाम-रूपों का मूल देख सकना, यह एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं। सहज वैदिक अद्वैतवाद समस्त विश्व के विभेदों में एक परम सत् और उस परम सत् में अनन्त विश्व का भेद खोजने की दृष्टि है।[८८] इस दृष्टि में जागतिक व्यवहार तिरस्कृत नहीं होता है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच में खाई नहीं पड़ती।[८९] यह एक सम्पूर्णता का सिद्धान्त है। जीवन की सारी अपूर्णताओं में एक सम्पूर्णता को प्रतिबिम्बित देखने की। **पूर्णमदः पूर्णमिदं।**"

श्रमण दृष्टि

वैदिक दृष्टि से सत्ता और अनुभूति के विभिन्न स्तर एक ही चित्-सूत्र में ग्रथित हैं। उनके भेद आत्यन्तिक नहीं हैं। पराङ्मुख चेतना भौतिक जगत् की सृष्टि करती है। प्रत्यङ्मुख होने पर वह अपने नित्य स्वरूप की ओर निवृत्त हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप वैदिक साधना में जगत् और ब्रह्म, भोग और त्याग का द्वैत पारमार्थिक नहीं ठहरता। किन्तु यदि अनुभव के नियामक को एक ओर बाह्य विषयों में मान लिया जाय और दूसरी ओर विषयी के रूप में विशुद्ध चेतना को विषयों से स्वरूपतः असंकीर्ण मान लिया जाय, तो एक अनिवार्य द्वैत उपस्थित हो जाता है। एक ओर पदार्थ जगत् है जिसके प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव है और उनकी अन्योन्य-परतन्त्रता से उनका विश्व व्यवस्थित है। इस जड़ विश्व से अत्यन्त भिन्न चैतन्य-रूपी अनोखा पदार्थ है जिसका अपना कोई स्वरूप ही नहीं प्रतीत होता बल्कि जो अपने से भिन्न पदार्थों को, प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। असंग चेतना और प्राकृतिक विषय, दोनों के स्वरूप विलक्षण हैं। एक नित्य, निरंश चेतना विषयी है, दूसरा अनित्य परिवर्तनशील, नाना जड़ विषयों का समूह है। पुरुष और प्रकृति का यह द्वैत पुरुष को अनन्त निर्वाण-सागर में निमग्न कर देता है, प्रकृति को काल की निरन्तर विनाशशील जड़ता में। सहज बोध में व्यक्त प्रकृति और पुरुष की समग्रता का स्थान एक असहजता या क्लेश का बोध ले लेता है जिसमें पुरुष अपनी निजी सत्ता में टिकना चाहता है किन्तु, अपने आपको एक निरन्तर विषय-प्रवाह में विवश बहता देखता है। मृत्यु और दुःख के राज्य में अमृतत्व और सुख की लिप्सा लिये हुए पुरुष अपने को विषम बन्धन में पाता है। जितना ही इस परिस्थिति पर विचार किया जाता है, उतना ही वह विषमतर प्रतीत होती जाती है। प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य उतना ही बढ़ता जाता है। यदि वेदान्ती विषयों का स्वतन्त्र अस्तित्व मिटा कर इस समस्या का समाधान करते हैं, तो भौतिकवादी लोकायतिक चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा

कर समाधान प्रस्तुत करते हैं। वैदिक और लोकायतिक दृष्टियाँ दोनों ही अपने-अपने रूप में अद्वैतवादी हैं। किन्तु बुद्धिजीवी मनुष्य की द्वन्द्व-व्यस्त चेतना के लिए अद्वैत का बोध ऐकान्तिक तर्क पर आश्रित वाद-मात्र से अधिक नहीं रहता।

वैदिक अध्यात्मविद्या का प्रारम्भ-बिन्दु एक सहज अद्वैत का भाव है किन्तु तर्कशील बुद्धि की प्रधानता होने पर यह सहज भाव अज्ञात नहीं रहता। भौतिक सभ्यता के विकास के साथ सामाजिक गतिविधि के जटिल और नियामक सूत्रों के अधिकाधिक परोक्ष होने पर व्यवहार-संचालन सहज बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं हो पाता। इस स्थिति में तर्क-बुद्धि ही सामाजिक व्यवहार का व्यवस्थापन और नेतृत्व करती है। उसके लिए घटनाओं का जगत् अप्रत्यक्ष कारणों पर निर्भर करता है, जिनका ज्ञान अनुमान के द्वारा किया जा सकता है। अनुमान के लिए पदार्थों का वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जहाँ सम्बन्ध के द्वारा ज्ञान होता है वहाँ सम्बन्धी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपेक्षित नहीं रहता। व्याप्य-व्यापक अथवा कार्य-कारण-सम्बन्ध किसी न किसी धर्म या विशेषता को ले कर ही सार्थक होते हैं। उदाहरण के लिए सुकरात की मरणशीलता का ज्ञान उसकी मानवीयता के आधार पर किया जाता है। जहाँ मनुष्यों के अन्तरंग भावात्मक सम्बन्ध अथवा आध्यात्मिक उपासना का जीवन विषय के स्वरूप-परिचय पर निर्भर करते हैं और चेतना की निबिड़ अवस्था की ओर उन्मुख होते हैं, व्यवहार और तर्क का जीवन परोक्षता और अमूर्तता के आयाम में सम्पन्न होता है। व्यक्तित्व का स्थान यहाँ वस्तुतः एक उपाधि ले लेती है। सभी सामाजिक व्यवहार उपाधियों पर ही निर्भर करते हैं, कम से कम जब वे मात्र भावाश्रित न हो कर व्यवस्था पर निर्भर करते हैं। इसी प्रकार से पदार्थ-जगत् भी तर्क-बुद्धि का गोचर होने पर लक्षणों और तत्त्वों का जगत् बन जाता है। वस्तु अपने परिभाषित गुण, सम्बन्ध या कारित्र से पहचानी जाती है। उसका किसी जातीय समुदाय में अन्तर्भाव होता है और उसी के नाते वह एक विविध सम्बन्ध-जाल में अंकित हो कर व्यवहार और तर्क का विषय बनती है। आचार और व्यवहार में इसी लिए भेद है। आचार सहज भाव से अथवा आन्तरिक नियम के बोध से प्रेरित होता है, जबकि व्यवहार बाह्य व्यवस्था के नियमों से, जिसमें व्यवहारकर्ता स्वरूप से प्रविष्ट न हो कर किसी एक विशिष्ट रूप या उपाधि के सहारे प्रविष्ट होता है। इसका समानान्तर भेद सहजबोध या तर्क-बोध का होता है। सहजबोध का विश्व एक साक्षात् प्रदत्त इकाई होती है, जिसमें भेद की प्रतीति अभेद की प्रतीति से स्थगित रहती है। कवि-प्रतिभा इस प्रकार के विश्व का दर्शन करने में समर्थ है, ऐसा बहुधा माना जाता है। **कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान**

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।[१०] में एक शाश्वत और समग्र दर्शन को कवि का विधान कहा गया है। मानव कवि भी न्यूनाधिक रूप में स्वयम्भू कवि का सारूप्य अथवा सान्निध्य प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह क्यों किया जाय ? दूसरी ओर तर्क-बोध का विश्व संवेदनों के विश्लेषण और पुनः संश्लेषण से उत्पन्न होता है। इस विश्व के निवासी पदार्थ सहज स्वरूपधारी नहीं होते बल्कि विकल्पित होते हैं, कल्पना-प्रदत्त भूमिकाएँ निबाहते हैं। उनकी पृथक्ता सापेक्ष होती है और इस कारण उनका व्यक्तित्व सदा अधूरा और खंडित रहता है। उनकी बाह्यसम्बन्ध-निर्मित एकता मात्र पूर्व-नियोजित व्यवस्था की छाया होती है। इस विश्व में साक्षात् परिचित व्यक्ति कम हैं, उनके संश्लिष्ट और कल्पित चित्र तथा शाब्दिक प्रतिनिधि अधिक होते हैं। यहाँ तक कि तर्क-बुद्धि के विकल्पित विश्व में तथ्य और अतथ्य का विवेक सहज परिचय के आधार पर नहीं किया जा सकता। इस विवेक के लिए प्रस्तुत पदार्थों की बहुत छान-बीन करनी पड़ती है। इसमें असली या नकली का पता लगाने के लिए सूक्ष्म अनुमान का सहारा लेना पड़ता है।

जब सामाजिक-भौतिक विकास की अवस्था में, विशेषतः साक्षर नागरिक सभ्यता की अवस्था में तर्क-बुद्धि और उससे अर्जित ज्ञान शिक्षा-दीक्षा के प्रधान विषय बन जाते हैं, तो मानवीय द्वन्द्व-ग्रस्त चेतना का आत्मानुसन्धान निषेधात्मकता से घिरने लगता है। तर्क-गोचर पदार्थ भी अपने कार्य से अथवा लक्षणों से पहचाने जाते हैं। इसी प्रवृत्ति से आत्मा को पहचानने की चेष्टा अप्रत्याशित परिणाम उत्पन्न करती है। मनुष्य के कार्य स्पष्ट ही देहाश्रित दिखते हैं और देही के रूप में ही वह प्रत्यक्षगोचर होता है। अतः देहमात्र को ही मनुष्य का आत्मिक स्वरूप समझना एक सम्भाव्य तार्किक दृष्टि है। मनुष्य प्रकृति का अंग है और उससे स्वतन्त्र पुरुष की कल्पना भ्रान्ति है, इस प्रकार के मत की प्रत्यक्ष की दुहाई के द्वारा स्थापना एक ऐसी तर्क-बुद्धि के लिए अनायास उपस्थित होती है, जो कि चेतना के निजी जीवन में अपरोक्षता और स्वतन्त्रता के आभास को उपेक्षित कर सकती है। यह लोकायतिक निषेध वैदिक आस्तिकता का प्रतियोगी एकान्त या ध्रुव था।[११] यदि वैदिक दृष्टि सहज आध्यात्मिकता की थी, तो लोकायत दृष्टि भोग-विभ्रान्त आधिभौतिकता की। किन्तु वस्तुतः इस प्रकार की ऐकान्तिक दृष्टि तर्क-बुद्धि की सहज परिणति नहीं है। तर्कबुद्धि अपनी विकल्पनात्मकता के कारण द्वन्द्व उपस्थापित करती है। उसका सहज समाधान नहीं है। उसके लिए जड़ और चेतन, विषय और विषयी का विभाग मिटा देने वाली बात नहीं है, क्योंकि इनके लक्षण अत्यन्त विविध होते हैं। इस भेद को स्वीकार कर चेतना का स्वरूपानुसन्धान तर्क की पद्धति से नहीं किया जा सकता। तर्क-बुद्धि व्यवहारगत द्वन्द्वात्मक चेतना को एक

आत्यन्तिक विभाग के द्वार पर ले आती है। एक ओर सीमित, खंडित नश्वर पदार्थों का मृत्युशासित साम्राज्य है। उसमें चेतन सत्ता के लिए अपने आपको खोजना कोई अर्थ नहीं रखता। पुरुष को आत्मानुसन्धान प्रकृति के बाहर ही करना होगा, यदि अमरता कोई अर्थ है, यदि भूमा कल्पनामात्र नहीं है। अपने लिए मनुष्य सहज रूप से अनन्तता, निरपेक्षता, अमरता चाहता है। आत्मा का यही चित्र मनुष्य की अनादियुगीन पर्येषणा में अंकित मिलता है। स्पष्ट ही यदि पुरुष प्रकृति के विपरीत गुणों से परिभाषित है, तो उसे खोजने का एक ही उपाय सम्भव है और वह है प्रकृति का निषेध। **यही अन्य-व्यावृत्ति का मार्ग मुख्य सांख्य मार्ग है, और सभी अवैदिक अध्यात्म-दर्शनों की यह आधार-शिला है।** आत्मा अनुभव का विषय न हो कर उसका साक्षी है। उसे न बाह्य प्रकृति में खोजना है, न अनुभव-प्रवाह में प्रतिबिम्बित विषयाकारों में, बल्कि ऐसे सत्य के रूप में जो कि अनुभव का स्थिर आधार है।

सांख्य दर्शन सम्भवतः प्राचीनतम श्रमण दर्शन था।[९२] एक आसुरि का उल्लेख **शतपथ ब्राह्मण** में आता है। वही सांख्य परम्परा के प्रसिद्ध आसुरि हैं, यह कह सकना कठिन है। **श्वेताश्वतर** में उल्लिखित 'कपिल' शब्द का अर्थ ही सन्दिग्ध है,[९३] किन्तु तो भी **महाभारत** में पाँच प्रसिद्ध प्रस्थानों में सांख्य का उल्लेख मिलता है।[९४] ये वही प्रस्थान हैं जिनका पुष्पदन्त ने **त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति** कह कर उल्लेख किया है। बुद्ध के शिक्षकों में आलार या आराडकालाम के सिद्धान्तों में सांख्य का एक रूप उपलब्ध होता है।[९५] बुद्ध के समकालीन परिव्राजक आचार्य पूर्ण काश्यप के मत में भी सांख्य का आभास मिलता है। **भगवद्गीता** सांख्य की भूमिका को मान कर प्रस्तुत होती है। उपनिषदों में भी अनेक सांख्य के सूत्र उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार यह सम्भावना दृढ़ होती है कि सांख्यीय अध्यात्म दर्शन न केवल प्राचीन था अपितु बहुत प्रभावी था। सांख्य की साधना-पद्धति मूलतः आत्मानात्म-विवेक की पद्धति थी। विषय के आकार ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति आत्मा की साक्षिता से भासित होती है। विषय, चित्त और आत्मा अभिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः हैं नहीं। उनमें आन्तरिक विवेक का कौशल ही सांख्यसम्मत अध्यात्मसाधना है।[९६]

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के श्रमण सम्प्रदायों के लिए सांख्य को एक व्यापक पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करना चाहिए। प्राचीनता के दावेदारों में जैनों का उल्लेख आवश्यक है। वे अपनी परम्परा को ऋषभदेव से प्रारम्भ कर छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उसके अन्तिम तीर्थंकर को रखते हैं। उनकी प्राचीनता और मौलिकता इस बात से प्रमाणित होती है कि उनका प्राचीन साहित्य संसारवाद को एक सम्पूर्ण दर्शन के रूप में स्वतन्त्रतया

प्रस्तुत करता है। जीव स्वरूपतः अमर होते हुए भी अजीव के बन्धन से बार-बार जन्म ग्रहण करता है। और उसके अमरता के अनुसन्धान का अर्थ है इस बन्धन से मुक्त हो कर अनन्तकाल के लिए अपने केवल स्वरूप में अवस्थित होना। जिस विशेष रूप से अजीव बन्धन बनता है, वह है कर्म। कर्म के भार से ही जीव अपनी सहज ऊर्ध्वगामिता से भ्रष्ट हो कर संसार-सागर में निमग्न होता है। उसके लिए तीव्र तप और नैष्कर्म्य के अतिरिक्त मुक्ति का और कोई उपाय नहीं है। इस साधना में आचार की अहिंसात्मक शुद्धि और कर्म का अन्ततोगत्वा सर्वथा त्याग प्रधान तत्त्व है। आन्तरिक व्यावृत्ति की साधना इसमें लौकिक व्यवहार से निवृत्ति की साधना बन जाती है। इस निवृत्ति-साधन को आचारगत नियमों के द्वारा अत्यन्त दृढ़ता से और सूक्ष्मता से जैन परम्परा में परिभाषित किया गया है। वैदिक साहित्य के प्रवृत्तिपरक कर्मकांड के नियमों के विस्तार की तुल्य-प्रतियोगिता जैनों के निवृत्तिपरक आचार के नियमों में पायी जा सकती है। जैन परम्परा अपने को आत्मवादी, लोकवादी, क्रियावादी कहती रही है। आत्मवाद और लोकवाद जैन द्वैतवाद का उपलक्षण हैं, क्रियावाद उनकी मूल साधन-पद्धति का। जैन आत्मा सांख्य पुरुष की तरह क्रियाहीन नहीं है, न वह औपनिषद आत्मा की तरह जगत् के उत्पादन और नियामक क्रियातन्त्र से सम्बद्ध है। जैन आत्मा की क्रिया-शक्ति उसका स्वातन्त्र्य है, जो उसे कर्म के बन्ध से मुक्त करता है और जो संयम और तप के रूप में व्यक्त होता है। जीवाजीव-विभाग एक सिद्धान्त के रूप में यहाँ पूर्व-स्वीकृत है, किन्तु इस विभाग को समझने मात्र से, आन्तरिक विवेक मात्र से जीव की मुक्ति नहीं होती है, क्योंकि उसके बन्धन का कारण अज्ञान और विषयों के अतिरिक्त कर्म की शक्ति है और उसका निवारण क्रिया के बिना सम्भव नहीं है। कर्म एक भौतिक वास्तविकता है और उसके निराकरण के लिए आत्म-शक्ति से प्रेरित क्रिया की आवश्यकता है। वैदिक दृष्टि में कर्म-मात्र पुरुष-स्वातन्त्र्य पर प्रतिष्ठित है और उसका आदर्श नियामक ऋत है। जैन दृष्टि में मौलिक पुरुष-स्वातन्त्र्य पर अज्ञान, कषाय और कर्म से जनित पारतन्त्र्य आरोपित है। अकालिक रूप से स्वतन्त्र पुरुष अपने को अनादिकाल से परतन्त्र पाता है। उसका मुख्य कर्तव्य है निजी मुक्ति का संग्राम, न कि यथाप्राप्त परिस्थिति में सामाजिक लीक पर चलना।[९७]

इसी मुक्ति के प्रश्न को ले कर छठी शताब्दी ईसा पूर्व में नाना श्रमण सम्प्रदाय आन्दोलित थे। कर्ममूलक पुनर्जन्म मनुष्य का बन्धन है, यह एक सर्वमान्य विश्वास था। इस बन्धन से मुक्ति किस प्रकार साध्य होगी, यह सामान्य प्रश्न था। इस बन्धन का प्रश्न और सन्दर्भ वैदिक युग से कितनी दूर हट गये हैं, यह विचारणीय है। विचार का केन्द्र पुरुष अब एक मनुष्य नहीं,

जीव है, उसका भाग्य देवाधीन नहीं है, स्वाधीन है। मनुष्य का सुख-दुःख उसके अपने ज्ञान, चरित्र और आचार पर सर्वथा निर्भर है, न कि देवताओं या अन्य मनुष्यों के विधान पर। स्वरूप से जीव नितान्त अकेला है, प्रकृति और समाज उसके लिए आगन्तुक बन्धन मात्र हैं, बाह्य सामाजिक इतिहास उसका नियामक नहीं है। कर्म की अदृश्य शक्ति, अलबत्ता, जीव के निजी इतिहास को सामाजिक परिस्थिति से यथायोग्य जोड़े रहती है। इस दृष्टि में देवशक्ति का या ऋतानुकूल संस्कार-निर्वर्त्तन का कोई हाथ नहीं है।

छठी शताब्दी के विश्लेषणात्मक बुद्धि के वातावरण में एक पुरानी परम्परा से प्राप्त संसारवाद का प्रचलन ही बुद्धयुगीन परिव्राजक सम्प्रदायों के उद्भव का जन्मदाता माना जाना चाहिए। एक ही मूल प्रश्न के इन सम्प्रदायों में विविध उत्तर मिलते हैं। किन्तु सभी सम्प्रदाय संसार-त्याग के समर्थक थे। बुद्ध ने स्वयं घर से बेघर हो कर अपनी अनुत्तर शान्ति की पर्येषणा आरम्भ की थी। प्रचलित पद्धतियों से अरूप समापत्तियों और तीव्र तप का अभ्यास करके भी वह असन्तुष्ट रहे और अन्ततोगत्वा[९८] बचपन में अभ्यस्त ध्यान के अभ्यास के द्वारा उन्होंने प्रज्ञालाभ किया। प्रज्ञा निर्विकल्पक साक्षात्कारात्मक ज्ञान है, अतएव उसके विषय का शाब्दिक प्रतिपादन यथार्थ नहीं हो सकता। विकल्प और शब्द अन्योन्य-समुद्भूत होते हैं। उनमें व्यवहारोपयोगी सापेक्ष ज्ञान ही ठीक व्यक्त होता है। यदि वस्तु का विध्यात्मक या भावात्मक स्वरूप अनुभवगोचर नहीं तो उसका पता शब्दों से नहीं चल सकता। शाब्दिक प्रत्ययात्मक ज्ञान के विषय मात्र व्यावृत्तियाँ होती हैं। इस स्थिति का परिणाम यह है कि अशाब्द प्रातिभ ज्ञान का अस्फुट संकेत मात्र सम्भव है, तर्कसंगत विवरण नहीं। इसी लिए बुद्ध ने अपनी अनुभूति को एक सिद्धान्त-व्यवस्था का रूप नहीं दिया। उन्होंने उपाय-कौशल्य से शिष्यों के अधिकार के अनुरूप मार्ग की देशना की। सत्य के प्रत्यात्मगोचर होने के कारण उसकी प्राप्ति का मार्ग ही उपदेश्य होता है। और इस मार्ग के एक पुराने राजमार्ग के समान सार्वभौम होते हुए भी इसमें प्रवेश प्रत्येक को अपने संस्कारों के अनुरूप करना होता है। प्रज्ञा-लाभ के लिए सभी को शील और समाधि का आश्रय लेना होता है और शील एवं समाधि के सामान्य लक्षण भी सार्वभौम होते हैं, किन्तु किसी के लिए उपासक का जीवन उपयोगी होता है, कोई भिक्षु बन सकता है। उपासक की दशा में अलग-अलग व्यक्तियों के लिए शील के अलग-अलग अंगों का अभ्यास न्यूनाधिक मात्रा में उपयोगी होता है। भिक्षुओं में भी अलग-अलग अभ्यास उपदिष्ट होते हैं। मानसिक बोध के स्तर पर भी तत्त्वोपदेश में प्रतिपादन-भेद होता है। किसी के लिए विषयों की अनित्यता को उपदेश निष्कामता और निरहंकारता के लिए पर्याप्त होता है। किसी के लिए विषयों की अवास्तविकता का उपदेश आवश्यक होता

है। इसी उपदेश-भेद के कारण परवर्ती काल में नाना बौद्ध सम्प्रदायों का जन्म हुआ। अनुभूति और व्याख्या की ऐकान्तिकता ही इस सम्प्रदाय-भेद का मुख्य कारण थी।[९९]

सम्बोधिगोचर परमार्थ का द्विधा संकेत किया गया है—निर्वाण और प्रतीत्य-समुत्पाद के रूप में। निर्वाण की कल्पना अनन्त शान्ति के रूप में है, प्रतीत्य-समुत्पाद की सापेक्षता के रूप में। निर्वाण जगत्-कारण के रूप में कल्पित न होने पर भी निष्प्रपंच ब्रह्म के समान पारमार्थिक है। प्रतीत्यसमुत्पाद मायिक विश्व के अन्तर्गत वस्तुओं और प्रत्ययों की स्वरूप-शून्यता है। अद्वैत वेदान्त और मौलिक बौद्ध मत की समानता आश्चर्यजनक है।[१००] उनमें विभेदक आत्म-विषयक प्रतिपत्ति थी, किन्तु यह स्मरणीय है कि आत्मवाद और अनात्मवाद के विरोध को साम्प्रदायिक व्याख्याकारों ने बढ़ाया है। यह भी स्मरणीय है कि स्वयं बुद्ध को अनात्मवादी कहना प्रामाणिक नहीं है। वह द्वन्द्वात्मक विरोधों का मध्यमा प्रतिपदा से परिहार करते थे।[१०१] न जीव का भौतिकवादी उच्छेद उन्हें अभिमत था, न उसकी शाश्वतता। आत्मा के विषय में अस्ति और नास्ति दोनों ही प्रश्नों का उन्होंने परिहार किया।[१०२] संसार-दशा में चित्त-प्रवाह को अनात्मा कहना ही ठीक है, क्योंकि वह अनित्य और विषयात्मक है। मुक्त आत्मा सर्वथा उपाधि-रहित है। अतः उसके लिए अस्ति या नास्ति नहीं कहा जा सकता।[१०३] अनात्मवाद का आध्यात्मिक अर्थ दैहिक-मानसिक तत्त्वों में अहं और ममरूपी अभिमान का त्याग करना है। दार्शनिक स्तर पर वह कालिक और व्यावहारिक अस्तित्व का नित्यत्व से विरोध स्थापित करता है। व्यवहार में किसी पदार्थ का अस्तित्व होने का अर्थ है 'करना' और करने का अर्थ है 'नष्ट होना'। बिना विक्रिया के क्रिया नहीं होती। अस्तित्व, अर्थ-क्रिया-कारित्व और क्षणिक अविनाभावी हैं। इस लिए नित्यत्व केवल व्यवहारोत्तीर्ण निर्वाण में ही सम्भव है। किन्तु उसका निजी स्वरूप अनिर्वचनीय ही रह सकता है। दूसरी ओर जिस व्यवहार-पथ से उसकी ओर गति सम्भव है उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम देखा जा सकता है। अविद्या, तृष्णा और कर्म बन्धन की ओर ले जाते हैं। विद्या, धर्मछन्द एवं धर्मचर्या मुक्ति की ओर ले जाते हैं। बौद्ध उपासक देवो-पासक न हो कर शीलोपासक थे, बौद्ध श्रमण मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के विपश्यक थे। अध्वर का स्थान अध्व ने, और प्रतीकों का प्रत्ययों ने ले लिया है। यद्यपि मूल बुद्धवचन और परवर्ती उपनिषदों में अन्तर अल्प है, यह अन्तर बढ़ता गया। निरुक्त और अभिधर्म की तुलना से उसकी पद्धतिमूलकता स्पष्ट हो जायगी। तार्किक स्तर पर विभिन्न आध्यात्मिक सम्प्रदाओं में बहुत भेद है। किन्तु यह भेद उनके आध्यात्मिक अनुभव को नहीं झुठलाते। आध्यात्मिक सत्य तर्कातीत है और कभी भी शास्त्रों की शाब्दिक प्रतिपत्तियों में नहीं बाँधा जा

सकता, न वाक्य-ज्ञान से अध्यात्मज्ञान होता ही है। हाथी और अन्धों का दृष्टान्त इस सन्दर्भ में स्वयं बुद्ध ने प्रस्तुत किया था।[१०४] अध्यात्मसाधना की सत्यता इस बात से पहचानी जाती है कि वह मनुष्य को जीवन के दुःखों से मुक्ति दे। मुक्ति का अन्तस्थ ज्ञान दूसरे का अगोचर होता है, किन्तु उसके आचार-व्यवहार की शान्तता और उदात्तता, संयम और समता सभी के लिए प्रत्यक्ष होती है। इसी ज्ञान से भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति में असीम उदारता थी। इस आध्यात्मिक सहिष्णुता का तार्किक विवादों से कोई विरोध न था। वैदिक और श्रमण, बौद्ध और जैन, शैव और वैष्णव, सभी सम्प्रदायों की साधनाएँ एक अखंड आध्यात्मिक सत्य की ओर उद्दिष्ट विविध मार्ग थे। **'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।' 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'** सैद्धान्तिक और आचारिक भेद के होते हुए भी इन मार्गों के अन्तराल में एक सार्वभौम योग-मार्ग की व्याप्ति देखी जा सकती है। योग ही अध्यात्मविद्या का अन्तरंग साधन है और उसकी परम्परा ही भारतीय आध्यात्मिकता का वास्तविक इतिहास है। इस आन्तरिक नींव पर ही शास्त्रीय व्यवस्थाओं के प्रासाद खड़े हैं। उनमें परिवर्तन आने से ही विच्छिन्नता नहीं आती, जब तक कि नींव पक्की रहती है। यह अकारण नहीं है कि **भगवद्गीता** को ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र कहा गया है। आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या और योग का भारतीय परम्परा में वही स्थान है, जो सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक विज्ञान का पश्चिमी आधुनिक संस्कृति में।

योग के विषय में कुछ भ्रान्तियों का निरास आवश्यक है।[१०५] योग नाना मार्गों में एक मार्ग नहीं, सभी मार्गों की एक अन्तर्वर्ती प्रक्रिया है जो नाना क्रियाओं, प्रत्ययों और संकेतों के आरोप के नीचे से आध्यात्मिक अनुसन्धान के मर्म के रूप में चलती रहती है, वही वास्तविक अर्थ में योग है। इस प्रक्रिया की व्याख्या नाना दर्शनों के अनुसार सम्भव है और इसी लिए साधन-पद्धति के नाना नामकरण और व्यवस्थापन मिलते हैं। इस स्थिति में प्रायः योग को सांख्य के साथ जोड़ कर उसे एक सीमित रूप में परिभाषित किया जाता है। किन्तु अन्य दर्शनों के अनुसार भी योग को शास्त्रीय रूप दिया गया है। ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि की साधनाएँ भी योग के बिना जुड़ी नहीं रहतीं। योग की इस विशालता का स्वीकार जितना **भगवद्गीता** में है उतना ही स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द आदि आधुनिक मनीषियों के द्वारा।

अनेक पाश्चात्य विद्वान् योग को ज्ञान का साधन ही नहीं मानते। उनके अनुसार योग या तो शारीरिक, प्राणिक और मानसिक व्यायाम मात्र है, या प्रतीकात्मक क्रियाओं की पद्धति है, या अन्ध-विश्वास का भ्रामक जाल है।[१०६] यदि उसका कुछ लाभ है तो वह चिकित्सा या उपासना के ही सन्दर्भ में हो

सकता है । इन अपव्याख्याओं के पीछे एक मूल धारणा है, वह है प्रमाण के स्वरूप के विषय में । यदि यह मान लिया जाय कि ज्ञान के तीन ही साधन हैं, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान, और ईश्वर-सन्देश, तो सचमुच ही योग ज्ञान का साधन नहीं हो सकता । यदि मानवीय चेतना के लिए निजी एकाग्रता से अतीन्द्रिय ज्ञान सम्भव नहीं है, तो सचमुच ही योग का कोई अर्थ नहीं है । इसी लिए लोकायतिक या मीमांसक आचार्य योग में आस्थावान् नहीं थे ।

योग की यह मूल मान्यता है कि आध्यात्मिक सत्य का ज्ञान चेतना की एकाग्र निश्चलता में स्वयं आविर्भूत होता है । विषयों से प्रत्याहृत मन की एकाग्र निश्चलता के सम्पादन के लिए ही नाना उपायों का सहारा लिया जाता है । आचार का नियमन सहज बहिर्मुखता पर अंकुश लगाता है और चेतना को राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियों के झंझावात में स्थिर रहने का आसरा देता है । गुरु, शास्त्र अथवा ईश्वर की श्रद्धापूर्वक उपासना मन को संशय से मुक्त करती है, चित्त की दृढ़ता और आश्वासन देती है, एवं आन्तरिक उपदेश के द्वारा उसे प्रबुद्ध कर योग के मार्ग में सहायक बनती है । **'सद्धा दुतिया पुरिसस्स होति पञ्ञा चे नं पसासति ।'**

आध्यात्मिक ज्ञान चेतना में अन्तर्निहित है और उसकी स्वरूपावस्थिति अथवा स्वरूप-विमर्श से अभिन्न है। चित्त की यहाँ सहज प्रभास्वरता ही प्रज्ञा है । इस अवस्था की प्राप्ति चित्त के विमलीकरण, प्रत्याहरण, और स्थिरीकरण से ही सम्भव है। अभ्यास, वैराग्य और नैरन्तर्य से यह प्रक्रिया चिरकाल में फलवती होती है । किन्तु सत्संग, विचार एवं ईश्वर में दृढ़ भक्ति से यह अनायास भी सिद्ध हो सकती है ।

मन के चित्संसर्गी होने के कारण उनका ज्ञान सदा जड़ विषयों के ज्ञान के समान एक निश्चित व्यवस्था का निरपवाद अनुसरण नहीं करता । इसी लिए योग में मनोविज्ञान की नियतरूपता के साथ-साथ अध्यात्मविद्या की अतर्क्यता मिली रहती है । तो भी योग गुरु-परम्परा से प्राप्त एक विद्या है, जिसकी ठीक साधना के लिए गुरु-कृपा से अधिक सहायक और कोई तत्त्व नहीं है । इसी लिए सब सम्प्रदायों में गुरु का स्थान सर्वोपरि माना गया है। योगविद्या का एक पक्ष चैतसिक कार्य-कारण-व्यवहार का विज्ञान है। इस क्षेत्र में गुरु क्रिया-कौशल का उपदेष्टा होता है । दूसरा पक्ष योगविद्या का है स्वरूप-शक्ति या स्वातन्त्र्य का उन्मीलन। उसमें गुरु आत्मा या स्वरूप से अभिन्न है । उस पारमार्थिक गुरुतत्त्व को बाह्य मानवीय गुरु पर आरोपित करना श्रद्धा अभिव्यक्त करने का एक प्रकार हो सकता है । किन्तु वह अनेक भ्रान्तियों और विकृतियों का कारण भी बना है ।

वैदिक और श्रमण दृष्टियों के संयोजन से भारतीय आध्यात्मिक परम्परा

का निर्माण हुआ है। वेदों में श्रद्धा रखने की प्रधानता रहते हुए भी निवृत्ति-मार्ग प्रवृत्ति से उत्कृष्टतर माना गया। संसारवाद और कर्मवाद में दृढ़ विश्वास, मोक्ष को चरम लक्ष्य और उसके लिए संसार से विरक्ति को उपयुक्त साधन स्वीकार किया गया। दूसरी ओर सांसारिक जीवन का सहसा त्याग न वैदिक परम्परा के अनुकूल था, न व्यवहार में सम्भव। अतएव आश्रम-चतुष्टय की कल्पना हुई। पहले तीन आश्रमों में वैदिक कर्म-योग, अन्तिम में संन्यास के विधान से वैदिक और श्रमण दृष्टियों, प्रवृत्ति और निवृत्ति का आपाततः समाधान हो जाता है। अवैदिक सम्प्रदायों ने भी उपासकों के लिए कर्म-प्रधान शील का प्रतिपादन किया। इन दो पक्षों के समाधान के प्रयत्न गीता, पुराण और तन्त्रों में देखे जा सकते हैं। गीता में कर्म और अकर्म की वास्तविक एकता प्रतिपादित की गयी है और आनुष्ठानिक कर्म को कर्मयोग में एवं कर्मयोग को ज्ञान में समाहित किया गया है। पुराणों में ज्ञान को उपासनासाध्य मान कर एक नये कर्मकांड का विधान है, जिसने पुराने वैदिक यज्ञों का स्थान ले लिया। तन्त्रों में आन्तरिक स्वातन्त्र्य के रूप में ज्ञान और कर्म की मूल एकता का प्रतिपादन है। पुराणों में वर्णित भक्ति में कर्म और संन्यास-समर्पण के द्वारा समाहित होते हैं, तन्त्रों में प्रकृति-परावर्तन के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सहज समाधान हो जाता है।

किन्तु समन्वय के इन विविध प्रयासों के होते हुए भी यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि वेदों के परवर्तीकाल में निवृत्ति की धारा ने वैदिक कर्मयोग को आक्रान्त कर जो पुरुष और प्रकृति के भेद को आत्यन्तिक ख्यापित किया, उससे सामाजिक परम्परा में विकृति उत्पन्न हुई। अकेले और असमर्थ पुरुष के लिए दुःख से मुक्त होने का उपाय जीवन से पलायन के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। दूसरी ओर प्रकृति का अनात्मिकीकरण उसको आसुरी शक्तियों के हाथ सौंप देता है। यदि ज्ञानी संन्यासी हो जायेंगे तो लोकसंचालन अनिवार्यतया अज्ञानियों के ही हाथ में पड़ जायेगा। इस स्थिति का भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक काल में अधिकाधिक सामना करना पड़ता रहा है। **'सम्भवामि युगे-युगे'** के जिस आश्वासन के सहारे वह जीती रही है उसके चरितार्थ होने के लिए देवशक्ति के अवतारभूत कुमार के जन्म के लिए भी शिव और शक्ति के परिणय की आवश्यकता रहती ही है।

'शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः।"

इस सत्य को भूलकर शक्ति को जड़मात्र मान लेने से समस्त ऐतिहासिक सिद्धि जड़वाद को ही अर्पित हो जाती है। चेतना का अनुसन्धान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक सृष्टि के कारण को उसकी इच्छा में न देखा जाय। **'स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय। इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।"**[१०७]

□□

१. विनय, महावग्ग पृ० २५
२. प्रतिमा-निर्माण की दो परम्पराएँ थीं : योगी प्रतिमा की और यक्ष प्रतिमा की; यह वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है—द्र० 'प्राचीन भारतीय कला'; कुमारस्वामी ने बुद्ध प्रतिमा की उत्पत्ति ध्यानमूलक बतायी है, द्र० 'फिगर ऑफ़ स्पीच ऑर फ़िगर ऑफ़ थॉट'; द्र० मेरा 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास'
३. शुक और जनक का संवाद 'देवीभागवत' में (१-१८) द्रष्टव्य है।
४. नैयायिक प्रमाण को करण-रूप मानते हैं जो ज्ञान भी हो सकता है। बौद्ध प्रमाण को अविसंवादी ज्ञानरूप परिभाषित करते हैं। तु० तर्करहस्य (पटना, १९७४), पृ० ३
५. तु० न्यायभाष्य (वाराणसी, १९७६), पृ० ३
६. तु० 'शारीरिक भाष्य' (उपोद्घात) : "अविद्यावदविषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च"।
७. द्र० टिक्सरों, 'हिस्टरी ऑफ़ डॉग्माज़' (लन्दन, १९३०), जि० १, पृ० १८२
८. गौडपाद, 'माण्डूक्यकारिका', ३-३९-४६
९. शिवसूत्र, १-१
१०. योगसूत्र, १-३
११. पूर्वपाषाण युग के उत्तरार्द्ध से तो मृतक की चिता के प्रमाण मिलते ही हैं।
१२. इसी लिए मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण को अमृतत्व या अमृतपद कहा जाता है।
१३. प्रत्यभिज्ञाहृदय, १
१४. वही, ५,
१५. धम्मपद, १-१,
१६. द्विविधा हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च।
१७. ओल्डेनबर्ग, 'डि लेर देर उपनिषदेन उंड डेआनफेंगे डेस बुद्धिस्मुस' (१९१५) याकोबी, 'जैन सूत्रज्' (एसबी ई जि० २२), भूमिका।
१८. बृ० ३-२-१३
१९. वही ३-९-२८
२०. वही, ६.२.८
२१. गीता ४.१.२
२२. म्योर, 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स'
२३. ठाकुर, 'द विज़न ऑफ़ इंडियन हिस्टरी'
२४. वेदान्त सूत्र, १.१.५
२५. द्र० मेरी 'श्रमणिज़्म एंड इट्स इम्पैक्ट ऑन् इंडियन कल्चर' (अहमदाबाद १९७८)

२६. इस धारा का मूल सिन्धु सभ्यता के योगियों में सम्भव है ।

२७. आपस्तम्ब (३१) : "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" ।

२८. "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः" (निरुक्त १.६.५)

२९. द्र० सर्वदर्शनसंग्रह (पूना, १९२०), पृ० १०१-६३

३०. द्र० 'श्रमणिज्म एंड इट्स इम्पैक्ट ऑन इंडियन कल्चर'

३१. द्र० 'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।" यह दिङ्नागीय मत है।

३२. द्र० न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका (बनारस, १९५२), पृष्ठ १२.१३ ।

३३. यह तभी सम्भव है जब उद्देश्य के रहने पर विधेय अनिवार्यतया उपस्थित हो ।

३४. इसी लिए धर्मकीर्ति को दिङ्नाग के प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' विशेषण जोड़ना पड़ा ।

३५. इस प्रकार के विरोधों के निराकरण के लिए रसेल ने 'रचना-जातियों (टाइप्स) के सिद्धान्त का आविष्कार किया था ।

३६. द्र० मेरा लेख "द कॉन्सेप्ट ऑफ़ प्रमाण" (विश्वभारती जर्नल ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी, १९६६)

३७. तु० न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, पृ० ५; ब्र० सू० (२.१.११) पर 'शारीरकभाष्य' : "निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति ।"

३८. किन्तु मनु० (१२.१०६) में आगमानुकूल तर्क को आवश्यक बताया गया है ।

३९. उदा० द्र० पञ्चदशी १.४७, ६४

४०. द्र० मेरा लेख 'रेलिजन एंड हिस्टोरिसिटी'' (मन्थन, सितम्बर, १९७८)

४१. तु० "न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति महार्था ह्येते दुःपरिज्ञानाश्च" । (दुर्ग, निरुक्त, जि० २, पृ० ५७६)

४२. 'इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ़ ओरिएंटलिस्ट्स्, रोम'

४३. निरुक्त (आनन्दाश्रम), जि० २, पृ० ६२५

४४. वही, पृ० ६३६

४५. तु० "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। (ऋ० १.१६४.४६)
तु० बृ० ३.९—"विदग्धः शाकल्य पप्रच्छ कतिदेवा याज्ञवल्क्येति···एकोदेव इति प्राण इति ब्रह्मैतदित्याचक्षते ।"

४६. शारीरकभाष्य, ब्र० सू० (१.३.२७) ।

४७. देवादि शब्दों का वास्तविक एंकेत्य अर्थ आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में ही विदित होता है । असामान्य आन्तरिक अनुभूति के ही वे संकेत हैं । यह स्थिति अन्य क्षेत्रों में भी देखी जा सकती है । उदाहरण के लिए संगीत या भौतिकी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द सामान्य अनुभव से ही समझ नहीं आ सकते । तु० पं० क्षे० च० चट्टोपाध्याय का प्राच्यविद्या सम्मेलन, त्रिवेन्द्रम्, के वैदिक विभाग का अध्यक्षीय भाषण ।

४८. तु० निनरुक्त, जि० १, पृ० २४

४९. द्र० मेरी 'मूल्य मीमांसा'

५०. तु० निरुक्त, जि० १, पृ० ६६; तु० कुमारस्वामी (सं० लिप्सेट), जि०२, पृ० १२३

५१. द्र०, अरविन्द, 'ह्रिम्स टु द मिस्टिक फ़ायर' (पांडिचेरी, १९५२); कुमारस्वामी 'न्यू एप्रोच टु द वेदज'; कपालिशास्त्री, 'सिद्धाञ्जनभाष्यम्'; अनिर्वाण, 'वेदमीमांसा' (१९६१) और आगे)

५२. उदा० ऋ० १.८९.१; १.१०१. १.७; १.८९.८

५३. उदा० ऋ० १.१.९; ५.७२.२

५४. ऋ० १०.१२१.२

५५. द्र० 'मूल्यमीमांसा'

५६. बृ० पूर्वोद्धृत स्थल

५७. छा० ६-३

५८. ऋ० १.९०.६

५९. वही १०.९०

६०. छा० ३.१४

६१. तै० ३

६२. ब्र० सू १.१.२

६३. बृ० ३.७

६४. इससे तु० संयुत्त निकाय के मल्लिकासुत्त में प्रसेनजित्-मल्लिका-संवाद—नत्थञ्ञो कोचि अत्तना पियतरोति"; सब्बादिसो अनुपरिगम्म चेतसा नेवज्झगा पियेतरमत्तना क्वचि। एवं पियो पुथु अत्ता परेसं तस्मान्न हिंसे परमत्त कामोति।"

६५. तै० वही

६६ ब्र०, ईश०

६७. मु० २-२-११

६८. तु० शतपथ ११-१-८३

६९. "हविर्वै दीक्षितः"—तै० सं० ६.१.४.५ तु० कुमारस्वामी, पूर्वोद्धृत, जि० २, पृ० १०७, और आगे।

७०. ऋ० १.६४. ४१-४२; ३.३१.८; १०.८२.६

७१. गीता ३.१०-११

७२. ऋ० १.१६४.३५

७३. तु० छा० ७।

७४. संक्षिप्त विवरग के लिए द्र० मेरी 'स्टडीज इन द ओरिजिंस ऑफ़ बुद्धिज्म'

७५. गीता २.४१।

७६. द्र० 'स्टडीज'

७७. वेदान्त सूत्रों में इसका विस्तृत विवेचन है।

७८. पञ्चदशी, ध्यानदीप प्रकरण।

७९. 'तपसस्तन्महिना जायतैकम्" (ऋ० नासदीय सूक्त) ; "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्य-जायत ।" (ऋ० १०.१९०)

८०. शतपथ ११.१.३, आत्मन: प्रतिमानमसृजन् तद्यनम् ।

८१. कठो० १-२-२३

८२. 'पुरुषो वाव यज्ञ:...। अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा: ।' (छा० ३१६)

८३. ईश० १-२

८४. ऊपर उद्धृत स्थल

८५. "भूमा वै सुखनाल्पे सुखमस्ति ।" (छा० ७)

८६. ख़ोंडा, 'हिस्टरी ऑफ़ इंडियन लिटरेचर', जि० १

८७. तु० कपाली शास्त्री, पूर्वोद्धृत, ऋ० १-१ पर

८८. अस्यवामीय, नासदीय और पुरुषसूक्त उल्लेख्य हैं ।

८९. "उभौ वर्णावृषिरुग्र: पुपोष" (ऋ० १.१७९.६)

९०. ईश । ८

९१. बुद्ध के समकालीन परिव्राजक अजित केशकम्बली का मत लोकायतिक ही है—उ० दीघ सामञ्ञफल सुत्तन्त ।

९२. द्र० मेरी 'स्टडीज़', पृ० ३०५

९३. श्वेताश्वतर ५-२

९४. शान्तिपर्व

९५. द्र०, अश्वघोष, 'बुद्धचरित'

९६. गार्बे से मिशलिन तक के पाश्चात्य इतिहासकारों के अनुसार उपनिषद्काल से विवर्तित होते हुए सांख्य सिद्धान्त गुप्तकाल में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के द्वारा अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुए । इस मत की आलोचना के लिए । द्र० 'स्टडीज़', १ ।

सांख्य सिद्धान्तों का साधना के साथ समन्वय हरिहरानन्द आरण्य की रचनाओं में सुप्रतिपादित है । उदयवीर शास्त्री का तथ्य-संग्रह उपयोगी है । यद्यपि शंकराचार्य में ने अचेतन परिणामवाद के रूप में सांख्य का खंडन किया है, उनके आत्मानात्म-विवेक में प्रकृति पुरुष-भेद की छाया देखी जा सकती है ।

सांख्य के तत्त्व आगमों में बहुत स्वीकृत हैं ।

९७. द्र० 'स्टडीज़', 'श्रमणिज़्म' लैक्चर्स ऑन जैनिज़्म' (दिल्ली १९७९)

९८. द्र० 'स्टडीज़' ।

९९. द्र० 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास'

१००. तु० तत्त्वसंग्रह 'तेषामल्पाराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः'।

१०१. 'संयुक्त' का प्रसिद्ध कात्यायनाववाद द्रष्टव्य है।

१०२. रामकृष्ण परमहंस का अभिमत था कि बुद्ध ने आत्मा का निषेध नहीं किया "जेखाने आत्मबोध हय अस्ति नास्ति नय। अस्ति नास्ति प्रकृतिर गुन।"
('श्रीश्री रामकृष्ण कथामृत', जि० ३, पृ० २८७)।

१०३. 'सुत्तनिपात' के अट्ठक और पारायण वग्ग विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

१०४. उदान

१०५. द्र० मेरा लेख "बेदोयतुंग देस योग" ('योगहॉइने', वाइलहाइम, १९७१)

१०६. कोस्टर, जेनर एवं मिच्या इलियादे की रचनाएँ द्रष्टव्य हैं।

१०७. शिवसूत्र, १-१३

तीन

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम'

नैतिक आदर्श और सामाजिक यथार्थ

यथार्थ और आदर्श का द्वन्द्व

प्राचीन काल में पशु-समुदाय और मनुष्य-समुदाय के बीच स्पष्ट भेद **समज** और **समाज** शब्दों द्वारा स्वीकृत था। यह सुविदित है कि समूहवादी होने के नाते यद्यपि दोनों ही में सहभाविता और सहकारिता का भाव रहता है, तो भी उनकी संबद्धता और प्रेरणा में भेद देखा जा सकता है। पशुओं की प्रेरणा और सम्बन्ध प्रकृति की विवशता के कारण प्रतीत होते हैं। मनुष्यों से उनका भेद धर्म के कारण बताया जाना प्रसिद्ध है। इसकी उपपत्ति में कहा जा सकता है कि मात्र सहज प्रवृत्तियों की परवशता के कारण पशुओं में स्वातन्त्र्य नहीं होता और अतएव **'स्वतन्त्रःकर्ता'** इस न्याय से उनमें कर्तृत्व नहीं माना जा सकता। कर्तृत्व के न रहने से धर्म की उनमें सम्भावना नहीं रहती है। यह सही है कि पशुओं में मनुष्योपम अनेक लक्षण देखे जा सकते हैं। उनमें विचित्र पारस्परिक उपकारकता, सम्प्रेषण और शिक्षणीयता के तत्त्व सूक्ष्म अनुसन्धान से प्रकाशित हुए हैं। प्रयोगों से यह सिद्ध है कि वे विविध कौशल अर्जित कर सकते हैं। किन्तु तो भी उनमें कर्तृ-स्वातन्त्र्य नहीं कहा जा सकता और इसका कारण उनमें निजी विवेक का अभाव ही माना जा सकता है। सुख-दुःख की प्राप्ति-परिहार के लिए वे स्पष्ट ही चेष्टाशील देखे जा सकते हैं। एक मात्रा तक उन्हें अनुभव से सीखते और अभीष्ट साध्य के लिए साधन जुटाते भी देखा जा सकता है।[1] किन्तु इस प्रकार एक सीमित ज्ञान-शक्ति के उनमें रहते हुए भी उनकी चेष्टाओं की नियामकता सर्वथा राग-द्वेष-भय आदि ही में रहती प्रतीत होती है। विचार, विवेक, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व और धर्म—इस श्रृंखला में पिछली कड़ी को मान कर ही अगली कड़ी का अस्तित्व बनता है। इन तत्त्वों के अभाव में पशु-जीवन को मात्र प्रवृत्ति-जीवन या भोग-योनि कहा

गया है। पशु-समुदायों में कार्य और संरचना के वैचित्र्य के देखे जाते हुए भी उनमें किसी प्रकृत्युत्तीर्ण आध्यात्मिक अन्तःसूत्र की कल्पना नहीं होती है। इसके विपरीत मानव-समाज में एक कर्म-व्यवस्था देखी जाती है, जिसमें इष्टानिष्ट के सहज बोध के अतिरिक्त, विचारक्षमता एवं उचितानुचित का विवेक अथवा धर्म-बोध देखा जाता है। मनुष्य समाज के विधारक सूत्र के रूप में धर्म का तत्त्व बुद्धि में ही निहित है। **'धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः'। 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।**

मननशीलता एवं उसके अनुबन्धी धर्मों से परिभाषित मनुष्यत्व के साथ-साथ मनुष्य में पशुत्व का अभाव न होने के कारण मानव-समाज में एक द्वैत का व्यक्त होना अप्रत्याशित नहीं है। प्रवृत्तिमूलक पारतन्त्र्य और विवेकमूलक स्वातन्त्र्य, दोनों को ही मानव-व्यवस्थाओं के नियामक के रूप में देखे बिना तथ्य की अवहेलना होगी। इन्हीं दो पक्षों को सामान्यतया सामाजिक यथार्थ और नैतिक आदर्श कहा जाता है। परस्पर विरुद्ध होते हुए भी इन दो में आश्रय की एकता के कारण अन्वय बना रहता है। जो अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहता है, उसे भी जीवन-निर्वाह के लिए सामाजिक परिस्थिति के अन्दर कार्य करना पड़ता है। जो प्रवृत्ति को ही अपने लिए पर्याप्त समझता है, उसे भी सामाजिक मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। आदर्श और व्यवहार में अपेक्षा और विरोध दोनों ही होने से उनमें एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध सिद्ध होता है। यथार्थ के उपयोग पर निर्भर व्यावहारिक सफलता की बुद्धि को प्राचीन परम्परा में नीति कहा जाता था। प्रबुद्ध स्वार्थ के रूप में नीति स्वयं अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। धर्म और नीति के द्वन्द्व के पीछे धर्म और अधर्म, नीति और अनीति के द्वन्द्व रहते हैं। अन्ततोगत्वा ज्ञान और प्रवृत्ति के आन्तरिक और पारस्परिक द्वन्द्व समाज-व्यवस्था और आचार-व्यवहार में प्रतिबिम्बित होते हैं।

भारतीय सामाजिकता के व्याख्या-सन्दर्भ में इस मूल द्वन्द्वात्मकता का प्रायः विस्मरण कर उसके आन्तरिक विरोधों पर बहुधा विस्मय व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि मुक्ति, समता, एकता आदि के उदात्त आदर्शों के होते हुए भी भारतीय परम्परा में सामाजिक व्यवस्था इनके अनुकूल न थी। वर्ण और जाति व्यवस्था में, स्त्रियों की दशा में, सामन्ती व्यवस्था में, निरंकुश राजतन्त्र में विषमता और दासता ही स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं। ऐसा लगता है कि आदर्श-बोध या तो निजी जीवन की चारदीवारी में सीमित था या वास्तविक नहीं था, उनमें मानवीय भ्रातृत्व, अन्याय के विरोध में संघर्ष, अन्धविश्वास के मुक्तिपूर्वक जीवन के बुद्धिसंगत व्यवस्थापन का आदर्श आदि सामाजिक मूल्यों का स्थान ही नहीं दीखता।[२] इस स्थिति में अनेक आधुनिक व्याख्याकारों का मत है कि परम्परागत सामाजिक व्यवस्था पिछड़ी

और हीन होने के कारण जिस सीमा तक सुधारी नहीं जा सकती, अवश्य ही काल की महिमा से नष्ट होगी और होनी भी चाहिए। पिछली शताब्दी से भारतीय समाज के विश्लेषण, सुधार और भविष्य-निरूपण का क्रम चल रहा है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि पुरानी व्यवस्था समाप्त हो गयी है या कि भारत में पश्चिमी समाज की तरह एक आधुनिक समाज उत्पन्न हो ही गया है। कुछ लोग यह मानते हैं कि परिवर्तन का यह अधूरापन समय से दूर हो जाएगा।

भविष्यवेत्ता न होने के कारण इतिहासकार भविष्यचर्चा में तो अनधिकृत है, किन्तु अतीत के विषय में वह यह अवश्य कह सकता है कि धर्म के ह्रास और लोप की यह बात कोई नयी नहीं है। प्राचीन काल से ही यह मत प्रचलित रहा है कि युगानुक्रम से धर्म का ह्रास होता रहा है और कलियुग में यह ह्रास अभी और आगे बढ़ता रहेगा।[३] वेदोत्तर काल में ठीक कब यह मत प्रकट हुआ, यह कहना कठिन है किन्तु सूत्रों में 'अवर-शक्ति-दौर्बल्य'[४] एवं भविष्यत्पुराण की चर्चा होने से उनके युग में इसका अस्तित्व अनुमेय है। **मनुस्मृति,**[५] **महाभारत**[६] एवं पुराणों[७] में तो चतुर्युगी एवं कलियुग का विस्तृत विवरण मिलता है। तपः-प्रधान कृतयुग, ज्ञान-प्रधान त्रेतायुग एवं यज्ञप्रधान द्वापरयुग के बीत जाने पर दान-प्रधान कलियुग का आविर्भाव हुआ। कलि में धर्म एक चौथाई ही शेष है, तीन चौथाई अधर्म का ही प्रभुत्व है। अभी कलि का प्रथम चरण ही है। परम्परा के अनुसार कलि का आविर्भाव महाभारत युद्ध के अन्त में हुआ और उसकी तिथि ई० पू० ३१०२ थी।[८] इस तिथि की प्रामाणिकता के सन्दिग्ध होने के कारण एक सुझाव यह है कि परीक्षित् एवं देवकीपुत्र कृष्ण के उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में उल्लिखित होने से वही समय महाभारत के युद्ध का मानना चाहिए और वह समय ई० पू० नवीं शताब्दी का मानना चाहिए।[९] महाभारत-युद्ध का प्रारम्भ एवं कलियुग का आविर्भाव वास्तविक घटनाएँ हैं या नहीं, यह स्वयं सन्दिग्ध है। उनके वास्तविक होने पर भी, युगसिद्धान्त का आविर्भाव तत्कालीन था, यह आवश्यक नहीं है। एक मत के अनुसार कलियुग-सम्बन्धी इस धारणा का आविर्भाव ई० पू० दूसरी शती में हुआ जब यवन आक्रमणों से मध्यदेश में अराजकता और विनाश की लीला फैली थी।[१०] कलियुग के रूप में धर्म के ह्रास की धारणा ने निश्चयात्मक रूप भले ही इस विदेशी आक्रमण के काल में लिया हो, कलियुग का आरम्भ वैदिक काल के अन्त से ही सार्थक ठहरता है। यदि यज्ञप्रधान द्वापर को उत्तरवैदिक काल माना जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नागरिक सभ्यता और पेशेवर सैनिकों की शक्ति पर आधारित साम्राज्य-सत्ता के युग में वे सब लक्षण देखे जा सकते हैं जिन्हें कलि-युग से सम्बद्ध किया गया है। बहुत-सी उन बातों को जिन्हें आधुनिक दृष्टि

से विकास की उपलब्धि माना जाता है, उन्हें प्राचीन दृष्टि से ह्रास के तत्त्व मानना अनिवार्य हो जाता है। अस्तु, इतना तो निश्चित है कि आधुनिक और प्राचीन, दोनों ही दृष्टियों से जो आदर्श वैदिक काल में जीवन के प्रयोजक थे, वेदोत्तरकाल में उनके अनुपालन में शिथिलता बढ़ती गयी और फलतः आदर्श और व्यवहार में अन्तर भी अधिक हुआ। आधुनिक दृष्टि के अनुसार इस विसंगति का कारण था भौतिक और राजनीतिक परिवर्तनों के समक्ष वैदिक निष्ठा की बढ़ती कट्टरता, जिसने सामाजिक आचार-विचार में समुचित परिवर्तन को अवरुद्ध किया। प्राचीन दृष्टि से विसंगति का कारण था निष्ठा की शिथिलता, विशेष रूप से सत्ता के कर्णधारों में। **'राजा कालस्य कारणम्।' 'राजाहि युगमुच्यते।'** यह क्या आदर्शों का दोष कहा जाएगा, यदि कुछ लोग उन पर आस्था छोड़ दें या उन्हें मान कर भी उन पर आचरण न करें? **'धर्मो रक्षतिरक्षितः।'** धर्म का बुद्धिग्राह्य रूप ही सनातन संस्कृति का अंग है, न कि सत्तापेक्षी व्यावहारिक जीवन की विकृतियाँ।

सामाजिक इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा का सम्बन्ध अनेकायामिक है। सामाजिक इतिहास में बहुत कुछ तत्कालीन होता है, जिसमें घटित और विघटित होने से संस्कृति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आता। वेश-भूषा की शैलियाँ इस प्रकार के सतही परिवर्तन के उदाहरण हैं। कुछ सामाजिक परिवर्तन एक नियत क्रम में बदलते आँकड़ों से बताये जा सकते हैं—जैसे जनसंख्या, मूल्य, वेतन आदि। पर्याप्त सामग्री होने पर ये आँकड़े एक विज्ञान के दृष्टान्त उपस्थित करते हैं, किन्तु किसी सामाजिक परम्परा की ऐतिहासिक या तात्त्विक विशिष्टता प्रतिपादित नहीं करते। सामाजिक व्यवस्था के दीर्घकालीन परिवर्तन ही सांस्कृतिक परम्परा का वास्तविक सामाजिक इतिहास है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इस इतिहास को भौगोलिक काल से निरूपित मानना एक प्रकार से **पोज़िटिविस्ट** जाल में फँसना है।[११] यदि सतही और भौतिक पर्यावरणिक परिवर्तनों से दृष्टि हटा कर परम्परा के मार्मिक पक्ष की ओर देखा जाय तो केन्द्रवर्ती स्थान में उपलब्ध होगा आदर्श जीवन की कल्पना को चरितार्थ करने के लिए एक आचार-व्यवहार का विधान। भारतीय परम्परा के अतीत पर विचार करने पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें आदर्श जीवन की कल्पना और व्यवहार-तन्त्र का व्यवधान एक युग के अनन्तर बढ़ता चला गया, जिसके परिणामस्वरूप आदर्श विच्छाय और व्यवहार विकृत होते गये। किन्तु जीवन्त संस्कृति का अन्तरंग आदर्श-कल्पना है, न कि व्यावहारिक विकृति। पर यह आदर्श-कल्पना गम्भीर तात्त्विक विचार का विषय है, जातीय भावुकता का नहीं।

जिस धर्म से भारतीय संस्कृति परिभाषित होती है, वह विवेक का एक

विशिष्ट इतिहास है, न कि जात-पाँत, छुआछूत, या चूल्हे-चौके की मृत या मुमूर्षु रूढ़ियाँ। धर्म को अतीत सामाजिक जीवन का कंकाल न समझना चाहिए, वह उसके युग-युगीन जन्मान्तर का हेतु-भूत प्राण रहा है, जोकि एक सनातन ज्ञान से अभिन्न है। सामान्यतया धर्म से नैतिक मूल्य और उनकी चेतना का बोध होता है। विधि-निषेध की नाना व्यवस्थाओं और संस्थाओं में, रामायण-महाभारत के आदर्श चरित्रों में, और प्रचलित कथाओं में व्यक्त हो कर धर्म की यह नैतिक चेतना समाज में शासकों और पंडितों से ले कर आपामर व्याप्त रही है। धर्म की अवधारणा हेगेल की **त्साइट्लिष्काइट** से तुलनीय है। हेगेल ने यह प्रतिपादित किया था कि शुद्ध नैतिकता की विषयनिष्ठता और शुद्ध कानून की विषयनिष्ठता, दोनों ही सापेक्ष हैं और उनकी वास्तविकता संस्थागत शील में ही उपलब्ध होती है।[११] सामाजिक संस्थाओं के द्वारा परिभाषित आचार-व्यवहार की व्यवस्था ही **त्साइट्लिष्काइट** है। इस धारणा में आदर्श और यथार्थ, नैतिकता, सामाजिकता, आत्मिक बोध और आचार-व्यवस्था एक द्वन्द्वात्मक समन्वय में चेतना के विकास को आदर्शित करते हैं। इसी प्रकार धर्म से अर्थ में नैतिकता और कानून, रूढ़ि और उपचार सभी संगृहीत होते हैं। धर्म को एक व्यापक अर्थ में सामाजिक जीवन का चेतना-सूत्र कहा जा सकता है। **'धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।'** यह विधारक सूत्र प्राकृतिक हेतुओं के द्वारा संयुक्त समाज की संरचना का, बुद्धि द्वारा उद्गृहीत विकल्पात्मक प्रत्यय नहीं है, बल्कि दिव्य पुरुष में प्रतिष्ठित मानवीय अन्विति का मौलिक सूत्र है। यह अन्विति आगन्तुक सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं है, बल्कि उनमें समवेत एक विराट् पुरुष का आभास है। धर्म प्राकृत या मनुष्यकृत नहीं है, वह मनुष्य के द्वारा आदर्श रूप से प्रतीत और अनुकूल दिव्य सत्ता का नियम है। **'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।'**[१२]

देवगण जिन नियमों से सहज रूप से कार्य करते हैं, वे ही प्राथमिक धर्म या ऋत के नाम से अभिहित हैं। मनुष्य के लिए वे ही एक नैतिक और धार्मिक विधान के रूप में अनुकार्य हैं। इस धारणा के अनुसार वैदिक युग में सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्यकलाप याज्ञिक अनुष्ठान से सम्बद्ध किये गये ताकि उनके करने में ऋत-पालन का ध्यान रहे। उदाहरण के लिए ऋतुओं के अनुसार कृषि-कार्य के परिवर्तनों के साथ चातुर्मास्य सम्बद्ध थे। राजकार्य के साथ अभिषेक, अश्वमेध, राजसूय आदि सम्बद्ध थे। मनुष्यों के अन्य मनुष्यों और प्राणियों के लिए कर्तव्य पाकयज्ञों में संकीर्तित थे। जन्म से मृत्यु तक का निजी जीवन संस्कारों से अंकित था। इस प्रकार प्रतीकात्मक अनुष्ठानों से संस्कारित हो कर समस्त जीवन एक कर्तव्य-विधान से परिगृहीत हो जाता है। भूमि से धान्य ग्रहण करते हुए किसान को, राज्याधिकार ग्रहण करते हुए राजा को, कन्या को

ग्रहण करते हुए वर को, सभी को स्मरण रखना चाहिए कि उन्हें देवकृपा से जो वरदान मिला है, उसके प्रति उन्हें निश्चित कर्तव्यों का निर्वाह करना है। निजी जीवन हो या सार्वजनिक जीवन, ऐहिक जीवन हो या पारत्रिक, सभी में एक दिव्य और शाश्वत नियम की व्याप्ति है।[१४] सांस्कारिक व्यवस्था इसी का प्रतीक है।

ऋतचर्या के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनमें सर्वप्रथम श्रद्धा उल्लेखनीय है।[१५] श्रद्धा का अर्थ था हृदय की अनुकूलता, देव-व्रत के अनुकूल धी का सम्पादन। धी या बुद्धि की अवधारणा में ज्ञान और संकल्प दोनों का अविभाग अभिमत था।[१६] धी दर्शनात्मिका भी थी, संकल्पात्मिका भी। यह दृष्टि कुछ परवर्ती और आधुनिक मतों के अनुकूल नहीं है, किन्तु ज्ञान और धर्म की एकता प्रतिपादित करने वाले सुकराती और अफलातूनी बुद्धिवाद की परम्परा का यही अर्थ है। ऋतचर्या और सत्य के पालन को अलग नहीं किया जा सकता। सत्य की महिमा वैदिक और वेदोत्तर साहित्य में कितनी गायी गयी है, इसका विस्तार यहाँ आवश्यक नही है।[१७] यह उल्लेखनीय है कि हैरोडोटस ने ईरानियों के सन्दर्भ में कहा है कि आर्यों में सत्य का पालन सर्वोत्कृष्ट गुण माना जाता था।[१८] दूसरी ओर लार्ड कर्ज़न ने हिन्दुस्तानियों को उपदेश दिया था कि उन्हें सत्य बोलना सीखना चाहिए। जो भी हो सत्यनारायण की कथा से ले कर **'सत्यमेव जयते'** की उद्घोषणा तक सत्य का नाम-संकीर्तन अभी तक भारत में चलता ही है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में नैतिक दृष्टि वीरोचित लक्षित होती है। यह स्मरणीय है कि अंग्रेज़ी शब्द **वर्च्यू** का मौलिक अर्थ वीरता, वीर्य या पौरुष ही था। वीरता के प्रतिमानभूत इन्द्र को आधुनिक व्याख्याकार नैतिकता की ओर उदासीन, बहुभोगी योद्धामात्र के रूप में चित्रित करते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं कि देवासुर संग्राम मूलतः सत्-असत् का संग्राम है। सत्पक्षी जीवन पौरुष-युक्त कर्मठ जीवन है। **'चरैवेति'** यही इन्द्र का उपदेश है।[१९] परवर्ती भारतीय साहित्य में धर्मसंग्राम का यह रूपक एक स्थायी रूप में मिलता है। **भगवद्गीता** और **मार्कण्डेय पुराण** की सप्तशती इसका निदर्शन है। **रामायण** और **महाभारत** में यही संग्राम का अर्थ है।[२०] अन्याय को सहने का जो अभियोग भारतीय परम्परा पर लगाया जाता है उसको इसी सन्दर्भ में विचारना चाहिए। दो विभिन्न स्वार्थों का संघर्ष न्याय एवं अन्याय का संघर्ष नहीं होता, चाहे वह सौ कौरवों का स्वार्थ हो या पाँच पांडवों का। इस प्रकार के संघर्ष में उदात्त प्रकृति का व्यक्ति युधिष्ठिर या अर्जुन के समान स्वार्थ-त्याग को ही श्रेय मानता है। न्यायिक संग्राम स्वार्थ-निरपेक्ष भावना से ही हो सकता है। बिना दैवी सम्पदा को अर्जित किये यह सम्भव नहीं है। गान्धी जी का प्रतिशोध की भावना से

शून्य, अहिंसात्मक संग्राम इस आदर्श का अद्भुत अर्वाचीन दृष्टान्त है।

सत्य और वीरता के समकक्ष प्राचीन वैदिक साहित्य में दानशीलता का आदर्श है। दिये बिना कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि स्वत्व के अभिमानी मनुष्य के लिए त्याग का सबसे बड़ा प्रतीक दान है। धन वाला होकर उसे ज़रूरतमन्द को न देना एक पाप है। **केवलाघो भवति केवलादी**।[२१] पौराणिक युग में दान की महिमा सर्वोपरि स्थापित हुई। और गुप्तोत्तर काल से दान-धर्म का अद्भुत विस्तार हुआ और उसने यज्ञ-धर्म का स्थान ग्रहण किया।[२२] बौद्धों ने भी दान को छह पारमिताओं में स्थान दिया। किन्तु इस परम्परागत आदर्श की महिमा वर्तमान काल में सुविदित कारणों से नष्टप्राय हो गयी है। व्यक्तिगत और संगठित वर्गीय अधिकारों के युग में आदान-प्रदान एवं बलपूर्वक आदान का भाव ही प्रधान रूप से मिल सकता है, न कि दान का।

इसके विपरीत वैदिक परम्परा में ऋण-शोधन या कर्तव्य-निर्वाह की धारणा सामाजिक विचार में केन्द्रित थी।[२३] ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए अध्ययन-अध्यापन के द्वारा वैदिक परम्परा को अच्छिन्न बनाये रखना आवश्यक था। ब्रह्मचर्य आश्रम बौद्धिक और चारित्रिक दोनों ही प्रकार के गुणों की साधना थी।[२४] उपनयन को दूसरा जन्म माना जाता था। इस शिक्षा-पद्धति की महिमा वैदिक साहित्य और विद्या के नानाविध विस्तार को देख कर ही समझी जा सकती है। अनुशासन की कठोरता, गुरु-शिष्य का निकट सम्बन्ध, सत्य की लगन, वित्तीय अवग्रह का अभाव, इस पद्धति की विशेषताएँ थीं। वेदोत्तर काल में अवैदिक सम्प्रदायों में ब्रह्मचर्य शब्द वेदाध्ययन के स्थान पर परमार्थ-चर्या के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। दूसरी ओर प्राचीन ब्रह्मचर्य आश्रम क्रमशः अप्रचलित हो गया।

पितृ-ऋण से मुक्ति के लिए गार्हस्थ्य का पालन आवश्यक था एवं देव-ऋण के लिए आहिताग्नि होकर नियम से देवोपासना। अग्नि में गृहपति का आदर्श प्रतिबिम्बित था, इन्द्र और वरुण में राजा का। वैदिक गृहतन्त्र की पितृ-प्रधानता तब से चली आ रही है। उसकी संयुक्तता की प्रथा प्राचीन अवश्य थी, किन्तु परवर्ती काल में एक मत कुटुम्ब-विभाग का समर्थक भी था और उसमें धार्मिक अनुष्ठानों की वृद्धि की प्रशंसा करता था। कुटुम्ब में और समाज में स्त्रियों की दशा वैदिक युग में समुन्नत थी, किन्तु पौराणिक युग में स्त्रियों के ब्रह्मचर्य के अधिकार से वंचित होने पर उनकी दशा गिर गयी। विदेशी आक्रमणों के युग में स्त्रियों की सुरक्षा के लिए उनके स्वातन्त्र्य के संकोच के द्वारा परिणामतः अधिकाधिक अन्याययुक्त विधान की रचना हुई।

प्राचीन वैदिक नैतिकता के दो पक्ष स्पष्ट ही देखे जा सकते हैं। एक तो उन सत्य, वीरता, दानशीलता, श्रद्धा आदि गुणों का है, जिन्हें पुरुष के आदर्श

स्वभाव का आविष्करण या उसका आन्तरिक भूषण कहा जा सकता है। दूसरा पक्ष उन ऋणों या कर्तव्यों का है, जिनका मूल मनुष्य की सामाजिक स्थिति में है। आत्मिक गुणों की साधना आध्यात्मिक खोज का ही अंग है, जबकि सामाजिक कर्तव्यों का अस्तित्व समाज के सदस्य होने के नाते उत्पन्न होता है। प्राचीन वैदिक चिन्तन में ये दोनों पक्ष जुड़े हुए थे, क्योंकि समाज को विराट् पुरुष की आंशिक अभिव्यक्ति माना जाता था। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक पक्षों की अनुरूपता के सिद्धान्त से स्वरूप की अभिव्यक्ति और ऋत के विधान एवं सामाजिक व्यवस्था में मौलिक आनुरूप्य अनिवार्य होता है। शील-परिष्कार, ऋतचर्या एवं ऋण-शोधन तीनों एक साथ ही धर्मानुशीलन के अंग थे।

अर्थ शब्द का निरुक्तिमूलक अभिधेय प्राप्तव्य लक्ष्य था। किन्तु इस शब्द का प्रयोग उपनिषदों में नैतिक या एषणीय लक्ष्य के रूप में मिलता है। नैतिक जीवन में मनुष्य के सम्मुख एक मौलिक वरण का प्रश्न रहता है। एक ओर श्रेयस् है और दूसरी ओर प्रेयस् है।[२५] मृत्यु को दिये हुए जीवन में असंख्य प्रलोभन हैं। किन्तु उनमें फँस कर रखने और बटोरने की दृष्टि से मूढ़ व्यक्ति प्रेयस् का वरण करता है। **'प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।'** किन्तु जो नचिकेता के समान जिज्ञासु हैं, उन्हें यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य धन आदि से तृप्त नहीं हो सकता। **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य:'**[२६] बुद्धिमान् मनुष्य श्रेयस् और प्रेयस् का विवेक विचारपूर्वक करता है और श्रेयस् को चुनता है। **'तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।'** श्रेयस् में आदर्श लक्ष्य के दोनों गुण हैं ··वह विवेक-निर्धार्य है और स्थायी है। प्रेयस् में तात्कालिक इष्टतामात्र होती है। दोनों के वरण के परिणाम विभिन्न होते हैं। एक उन्नति का, दूसरा अवनति का द्वार है। **'श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।'**

विवेक-गम्यत्व, स्वातन्त्र्य, नित्यत्व, अनन्तत्व, परत्व, श्रेष्ठत्व आदि लक्षणों से युक्त, श्रेयस् आत्मरूप अर्थ में ही लक्षित होता है। इस लक्ष्य के विधि-निषेध के परे होते हुए भी उस तक की यात्रा उनके क्षेत्र के बीच से ही की जा सकती है। जो दुश्चरित से विरत नहीं, जो मन में शान्त और समाहित नहीं, वह ज्ञान मात्र से आत्मा तक नहीं पहुँच सकता।[२७] इस प्रकार श्रेयस् का अनुसन्धान विवेकमूलक वरण से प्रारम्भ होकर, सद्गुणों की भावना के द्वारा अन्ततः विशुद्ध आत्मा के क्षेत्र तक पहुँचता है। इन सद्गुणों का उपनिषदों में अनेकत्र उपदेश किया गया है। प्रजापति के द्वारा दान, दम और दया मनुष्यों, देवताओं पर असुरों द्वारा विशेषतया सेवनीय बताये जाने की कथा जितनी सुविदित है, उतना ही उसका आशय स्पष्ट है।[२८] किन्तु कुछ धर्म निरपेक्ष थे, और कुछ सापेक्ष। धर्म के तीन स्कन्धों के उल्लेख में आश्रमों की

सूचना मिलती है, जिनकी अपेक्षा से शील-चर्या का विभेद होता है।[२९] पहले दो आश्रम वैदिक परम्परा के प्राचीन अंग थे। उपनयन के द्वारा वेदाध्ययन के लिए आचार्य-कुल में वास ब्रह्मचर्य आश्रम था, विवाह और अग्न्याधान के द्वारा ऋत-चर्या के लिए दीक्षित होना गार्हस्थ्य में प्रवेश होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अरण्यवास का आश्रम के रूप में विकास सांकेतिक अग्निचयन और उपासनात्मक विधाओं के युग में हुआ। वानप्रस्थ में अन्नोत्पादन और प्रजोत्पादन के विरामपूर्वक किन्तु यज्ञ-क्रिया को छोड़े बिना तपस्याचरण मुख्य था। इन तीन आश्रमों की मौलिक वैदिकता असन्दिग्ध है। किन्तु चतुर्थ आश्रम की स्थिति भिन्न है। उसमें क्रियात्मक वैदिक धर्म ही छूट जाता है और उसकी मौलिक प्राचीनता का वैदिक साहित्य में निश्चित प्रमाण भी नहीं मिलता है।[३०]

सत्य, दम, दया आदि निरपेक्षतया साध्य आत्मगुणों के रूप में और वर्णाश्रमानुसार पालनीय नियमों के रूप में धर्म की द्विविध व्यवस्था वैदिक परम्परा में देखी जा सकती है। यद्यपि व्यवस्था के रूप में चातुराश्रम्य का विवरण श्रौत साहित्य में नहीं मिलता, चातुर्वर्ण्य का मिलता है। सुविदित पुरुष सूक्त में पुरुष और समाज के सारूप्य से वर्णों में कार्योपयोगी अवयवों की कल्पना मिलती है। शंकराचार्य का कहना है कि **"ब्रह्मणा सृष्टाः वर्णाः कर्मार्थम्। तच्च कर्म धर्माख्यं सर्वानेव कर्तव्यतयानियन्तृ पुरुषार्थसाधनं च।"**[३१] वर्ण-विभाग का प्रयोजन कर्म-निष्पत्ति है। कर्तव्य के रूप में कर्म सबका नियामक है और उन्हें पुरुषार्थ तक पहुँचाने वाला साधन भी है। वही कर्तव्य-भाव से नियामक और पुरुषार्थ-साधक तत्त्व धर्म कहा जाता है। आधुनिक चिन्तन में वर्णों की ऐतिहासिक उत्पत्ति और स्थिति विशेष रूप से विचारी जाती है। इस विचार को स्थगित रख कर यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि धर्म वर्णों का इतिवृत्त मात्र नहीं है। वह समाज-वृत्त को व्याप्त करने वाली मूल्यचेतना है। जो कर्तव्य नियम के रूप में पुरुषार्थ का साधन है, वही धर्म है, कर्ममात्र नहीं जो कि सहज प्रवृत्ति अथवा दूसरे की ज़बरदस्ती से किया गया हो सकता है। न वह ऐसा कर्म है, जो मात्र स्वाभाविक फल उत्पन्न करता है, किन्तु जिसका आत्मिक साध्य या पुरुषार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। लौकिक कर्म और सम्बन्ध एक वस्तु-स्थिति मात्र हैं, जो आत्मस्थिति से उसके संयोजक एक भाव के द्वारा धर्म से सम्बद्ध होते हैं। धर्म की सत्ता चेतना के माध्यम से ही सिद्ध होती है। वह मूलतः ज्ञान की ही विशेषता है जो संकल्प को आकारित करती हुई आचार का नियमन करती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि वर्णसमष्टि धर्म का स्वरूप न हो कर उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित ऐतिहासिक उपाधि मात्र है। पहले तो वर्ण ही समाज के सहज या प्रकृतिसिद्ध विभाग न होकर एक शास्त्रीय कल्पना के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। दूसरे, धर्म वर्णों के सन्दर्भ में एक आदर्श के

रूप में अभिहित है, न कि उनके यथादृष्ट नियमों की संहिता के रूप में। पुरुष-सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति को एक दिव्य यज्ञ में पुरुषरूप हवि के विभाजन के रूप में बताया है। देवकर्तृक पुरुषद्रव्यक यह यज्ञ, यज्ञ के द्वारा ही किया गया। उस समय धर्म मूल रूप में ही थे। घटना के रूपक में यह विवरण एक सनातन तत्त्व का ही निर्देश करता है। देवशक्तियाँ पुरुष से बाहर या अतिरिक्त नहीं हैं, क्योंकि "**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।**" पुरुष का वर्णात्मक विभाग उसके कर्तृत्व का ही विभाग है और पौरुष यज्ञ त्यागपूर्वक एवं देवोद्दिष्ट कर्म से अभिन्न है। प्राथमिक धर्मों के अनुसार मूल मर्यादाओं का पालन करते हुए उदात्तलक्ष्य के लिए स्वार्थ का त्याग, यही सामाजिक कर्तृत्व का दिव्य नियम है। वर्णों की कल्पना पुरुष की कल्पना के अनुसार है। धर्म पुरुष के लिए दिव्य नियम है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पुरुष का दिव्य स्वभाव ही नियामक का मूल धर्म है। प्राकृतिक सृष्टि के गर्भ से व्यक्त पुरुष का मिश्रित स्वभाव ही नियम्य है और उसी मिश्रित आत्मबोध के अनुसार समाज की प्रतिमा कल्पित होती है। इसके लिए पुरुषसूक्त में मानवीय और लोकात्मक रचना के अनन्तर यह कहा है कि दिव्य यज्ञ और उसके प्राथमिक धर्म उपरि-तम लोक के हैं। धर्म का मूल इतिहास-वास्तव्य सृष्टि के पूर्व के काल में है। स्पष्ट ही वह एक आदर्श प्रतिमान है।

बृहदारण्यक में यह और भी स्पष्ट है।[३२] "आरम्भ में ब्रह्म ही एकमात्र था किन्तु अकेला होने के कारण उसका विभव नहीं हुआ। तो उसने श्रेयोरूप क्षत्र की सृष्टि की, किन्तु तो भी विभव की प्राप्ति नहीं हुई तो विश् की सृष्टि की, फिर शूद्रवर्ण की सृष्टि की, जिसका पूषा के समान पोषणात्मक कार्य है, तो भी (इन वर्णों की सृष्टि होने पर भी) विभव नहीं हुआ।" इस वर्णन में यह देखने योग्य है कि चारों वर्णों की सृष्टि होने पर भी समुचित विभूति अनुपलब्ध ही रहती है। श्रेय के लिए नाना कार्यात्मक इन वर्णों के विद्यमान रहने पर भी वास्तविक श्रेय और विभूति प्राप्त नहीं होते। इसी स्थिति में "ब्रह्म ने श्रेयो-रूप धर्म की सृष्टि की, क्षत्र का जो क्षत्र है वह है धर्म, धर्म से ऊपर कुछ नहीं है, बलवान् का सामना निर्बल धर्म से करता है, जैसे राजा के समक्ष। जो धर्म है वह सत्य ही है, इसी लिए सत्य बोलते हुए को कहते हैं कि धर्म की बात कह रहा है, धर्म की बात कहते हुए को कहते हैं सत्य कह रहा है, दोनों ही एक होते हैं।"[३३] इस निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि नाना कर्म करने वाले चार वर्ण कल्याण के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उनको मर्यादित करने वाला, सत्य पर प्रतिष्ठित न्याय-सूत्र ही धर्म है। वही वस्तुतः श्रेयोरूप है। वह राजसत्ता के ऊपर की नैतिक शक्ति है, जो सामाजिक विषमताओं का विरोध करती है। धर्म के यहाँ चार लक्षण कहे गये हैं—श्रेयस्, न्यायिक समता, अदंडात्मक

शासन और सत्य। श्रेयोरूप होने के नाते धर्म विवेक-गोचर और प्रेयोऽतीत है। न्यायिक समता उसको प्रकृतिगत विषमताओं से पृथक् करती है। धर्म का नैतिक प्रभुत्व उसे दंडात्मक राजसत्ता से अलग करता है। सत्यात्मकता उसे ज्ञानरूप बनाती है। शंकराचार्य के शब्दों में सत्य और धर्म का अभेद धर्म को ज्ञानानुष्ठान लक्षण सिद्ध करता है। धर्म के अभाव में वर्गात्मक वर्ण तो रहेंगे, किन्तु बल के आधार पर शासन होगा और धनादि प्रेय का ही अनुसन्धान होगा।

धर्म की यह धारणा यूनानी दार्शनिक प्लेटो के द्वारा की गयी न्याय की व्याख्या की याद दिलाती है। प्रो० अर्विक ने इस समानता की ओर ध्यान दिलाया है। प्लेटो ने भी समाज को पुरुष का बृहत्तर रूप बताया है और पुरुष स्वभाव के तीन विभागों के समकक्ष समाज के तीन वर्गों की कल्पना की है। स्वभाव के ये तीन भाग सांख्य के तीन गुणों से तुलनीय हैं, और समाज के तीन वर्ग वर्णों से। जैसे पुरुष के व्यक्तित्व में ज्ञान की प्रधानता है, ऐसे ही समाज की व्यवस्था में ज्ञानियों की होनी चाहिए। सुयोग्य व्यवस्था में अपने कर्तव्य का निर्वाह ही मनुष्य का धर्म है। यह धारणा गीता के स्वधर्म के सिद्धान्त से तुलनीय है। इस समानता के कारण ही प्राचीन हिन्द-यवन शासकों ने यूनानी **दिके** शब्द का अनुवाद धर्म शब्द के द्वारा किया है।

छठी शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक का समय महत्त्व-पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों का था। नाना जनपद क्रमशः एक विशाल मगध साम्राज्य के अंग बन गये और यह साम्राज्य हिन्दूकुश से सुदूर दक्षिण तक विस्तृत था। इसके साथ ही नागरिक जीवन का विकास हुआ और व्यापारिक पद्धतियों और व्यवसायों का विस्तार एवं श्रेणियों के रूप में उनका संगठन। नये शासन-तन्त्र के साथ व्यावसायिक सैनिकों और अमात्यों का भी प्रादुर्भाव हुआ। अवैदिक सम्प्रदाय और नाना भिक्षु-संघों का प्रचलन हुआ।

वैदिक काल के अनन्तरवर्ती परिवर्तन-संकुल युग में धर्मविषयक तीन चिन्तन-धाराएँ दीख पड़ती हैं। एक ओर तो सूत्रों और स्मृतियों में वैदिक आधार पर किन्तु तत्कालीन समाज के यथार्थ के सन्दर्भ में धर्म को एक व्यापक व्यवस्था के रूप में देखा गया और उसकी एक संहिता बनाने की चेष्टा की गयी। इस प्रसंग में कुछ नियमों में हेर-फेर किया गया, कुछ नये प्रश्नों पर विचार किया गया। किन्तु परिणामतः जिस रूप में धर्म स्मृतियों में व्याख्यात और निरूपित हुआ, वह चिरकाल के लिए प्रामाणिक माना गया। मीमांसक सम्प्रदायों में धर्म की परम्परा की तात्त्विक व्याख्या हुई। दूसरी ओर दंडनीति और अर्थशास्त्र के साहित्य में धर्म-व्यवस्था की राजसत्ता के बढ़ते क्षेत्र के सन्दर्भ में व्याख्या की गयी। तीसरी ओर अवैदिक श्रमण सम्प्रदायों में धर्म की

व्याख्या सार्वभौम किन्तु निवृत्ति-प्रधान जीवन के सन्दर्भ में की गयी है। इसके समानान्तर ही एक असाम्प्रदायिक व्याख्या कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलती है।

सूत्रों का रचना-काल ई० पू० ६०० से २०० ई० के बीच रखा गया है।[३४] कौटुम्बिक जीवन, ग्राम-जीवन और वैदिक चरण सभी पुरानी अभ्यस्त रीति से चले जा रहे थे। किन्तु नगर और महाजनपद एवं साम्राज्य का आविर्भाव हो चुका था, यद्यपि उनकी अप्रत्यक्ष नियामकता सामान्य जीवन को एक स्पर्श रेखा के समान ही छूती थी। सूत्रकार इन नागरिक और साम्राज्यीय नयी जीवन-विधाओं की ओर ध्यान न दे कर पुरानी परम्पराओं के संग्रह का ही प्रयास करते दीखते हैं। किन्तु धर्म को परिभाषित कर संहिता का रूप देने का अवश्य ही तात्कालिक कारण था। अत्यन्त पुरानी परम्परा में लोप का भय और सुविस्तृत होने के कारण उसके जानपदिक प्रचलन में पारस्परिक विरोध के कारण अव्यवस्था का भय अवश्य ही इन कारणों में सम्मिलित थे। नास्तिक विचार, नागरिक आचार एवं नये राजाओं की पारस्परिक धर्म के प्रति आस्था-शैथिल्य से भी इसी प्रकार का भय दृढ़ हुआ होगा।

श्रौत-सूत्रों में कर्मकांड के विधान को शाखा-भेद के अनुसार व्यवस्थाबद्ध रूप दिया गया। गृह्य-सूत्रों में गृह-जीवन के सांस्कारिक अनुष्ठान और रीति-रिवाज का संग्रह किया गया। धर्म-सूत्रों में सामाजिक आचार के नियमों और संस्थाओं का धर्मसंहिता के रूप में संग्रह मिलता है। यद्यपि कल्प-सूत्रों का अध्ययन चरण-व्यवस्था के अन्तर्गत था, धर्म-सूत्रों का प्रामाण्य क्रमशः व्यापक रूप से माना गया। **"सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि सम्मतः।"**[३५] धर्म-सूत्रों का प्रामाण्य उनकी वेदमूलकता पर ही निर्भर माना जाता है। सूत्रकार अवर-कालीन होने के कारण स्वयं द्रष्टा नहीं माने जाते थे। आपस्तम्ब की उक्ति है—**"तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्"**। किन्तु उनका कहना है कि श्वेतकेतु जैसे कुछ लोग ऋषि-कल्प हो जाते हैं। इससे यह तो स्पष्ट है ही कि सूत्रयुग में आचार की आदर्श-शुद्धि श्रुति-गोचर थी, न कि प्रत्यक्ष-गोचर। किन्तु इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जो स्वयं ऋषि न हो कर ऋषिपरम्परा के आधार पर धर्म का अनुपूर्व विवरण देने के कार्य में जुटे थे, उनकी कृतियाँ उनकी अपनी बुद्धि से निश्चित रूप से प्रभावित थीं। वस्तुतः धर्म-सूत्रों का आधार न साक्षात्कार है, न अन्यों के साक्षात्कार का स्मृतिपूर्वक अनुवादमात्र। सूत्र-शैली ही विश्लेषणात्मक बुद्धि की परिचायक है। सामान्य व्याप्तियों के रूप में धर्म का प्रकथन और उसका एक आनुपूर्वी से व्यवस्थापन परम्परागत तत्त्वों पर विचार के द्वारा ही सम्भव है। आचार-व्यवहार सम्बन्धी यह विचार का क्रम धर्मशास्त्रों में सदियों तक चलता रहा। यह सही है कि

इस प्रक्रिया में विचारों की नवीनता अभीप्सित नहीं थी, किन्तु नवीन संस्करणों के प्रस्तुत करने में भी नयी अपेक्षा अन्तर्निहित होती है। इसके परिणामस्वरूप यह मानना होगा कि सूत्र और स्मृति ग्रन्थों में पुरानी वैदिक परम्परा की स्मृतियाँ और नवीन देश-काल के आग्रह मिली-जुली अवस्था में मिलते हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में सनातन के आग्रह और ऐतिहासिकता के आग्रह को अलग कर सकना सदा सम्भव नहीं है। तो भी आधुनिक ऐतिहासिक विश्लेषण ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है पर धर्मशास्त्र के पारम्परिक और आधुनिक बोध में महान् अन्तर है। अन्तर होते हुए भी उनके समन्वय से ही धर्म की सनातनता को ऐतिहासिक रूपों के अन्तराल से पहचाना जा सकेगा।

गौतम को प्राचीनतम धर्म-सूत्रकार माना गया है। वे धर्म का मूल न केवल वेद को बताते हैं बल्कि वेद के जानकार लोगों के शील और स्मृति को धर्म के विषय में प्रमाण मानते हैं।[३६] वेद के अतिरिक्त प्रमाण को ढूँढ़ने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो वैदिक परम्परा में विच्छेद की आशंका, दूसरे प्रचलित नियमों के स्पष्ट वैदिक मूल की अनुपलब्धि। इस स्थिति में क्या वेदज्ञ का शील प्रमाण हो सकता है? जानना और है, आचरण और है। एक प्रसिद्ध उक्ति है **"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः।"** प्राचीन ऋषियों के भी अतिक्रमण प्रसिद्ध हैं। इस स्थिति में उनका या उनसे अवर शास्त्र के प्रणेताओं का शील कैसे प्रामाणिक होगा? बौधायन के द्वारा दी हुई शिष्ट की परिभाषा इस प्रसंग में दूसरी है।[३७] उनका कहना है—**"शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहंकाराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोध-विवर्जिताः।"** शिष्ट की परिभाषा यहाँ चारित्रिक गुणों के द्वारा की गयी है। चरित्रवान् का आचार अवश्य ही प्रमाण होना चाहिए और चरित्र की पहचान अहंकार, क्रोध, लोभ आदि विकारों के अभाव से की जा सकती है। वसिष्ठ ने स्पष्ट कहा है कि—**"शिष्टः पुनरकामात्मा।"**[३८] किन्तु निष्काम, सन्तोषी, निर्विकार व्यक्ति का आचार क्या उसी धर्म को प्रदर्शित करता है जो वेदसम्मत है? बुद्ध, महावीर आदि इस प्रकार के चरित्रवान् व्यक्ति थे, किन्तु उनका धर्म तो वेद-संगत नहीं कहा जा सकता। इस कठिनाई का समाधान मनु ने गौतम और बौधायन के प्रस्तावित लक्षणों को जोड़कर किया है—**"स्मृतिशीले च तद्विदाम्।"** एवं **"आचारश्चैव साधूनाम्।"**[३९] इन दोनों को पृथक् न मान कर मनुस्मृति में संयुक्त रूप से लिया गया है। वेदविद् का आचार एवं सत्-पुरुष का आचार, दोनों ही प्रमाण है। किन्तु उनमें विरोध होने पर वेदविद् का शील बली है। वेदविद् का शील यहाँ स्मृति के साथ समुच्चित रूप में लिया गया है और कुल्लूक के अनुसार ब्रह्मण्यता आदि प्रसिद्ध शील ही यहाँ ग्राह्य है। पर यह विचारणीय है कि प्रसिद्ध शीलमात्र लेने से वह अपूर्व ज्ञापक

न होने के कारण प्रमाण ही न रहेगा।

यह सही है कि श्रुति, स्मृति और सदाचार में पूर्व-पूर्व बलवत्तर माने जाते हैं। किन्तु उत्तरोत्तर के प्रामाण्य का स्वीकार ही यह प्रदर्शित करता है कि वे कुछ ऐसी बातों को प्रमाणित करते हैं जो उनके पूर्ववर्ती साधनों से सिद्ध नहीं होतीं। इस दृष्टि से उत्तरोत्तर साधन निकटवर्ती, स्पष्टतर और परिणामतः अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन तीन के अतिरिक्त मनु ने धर्म में एक चतुर्थ प्रमाण भी बताया है और वह है **'आत्मनस्तुष्टिरेव च'** अथवा **'स्वस्य च प्रियमात्मनः।'** जो अपनी आत्मा के लिए प्रिय या सन्तोषजनक हो, उसे भी धर्म के लक्षण से युक्त माना जा सकता है। यह मत किसी प्रकार का **हेडोनिज्म** नहीं है, क्योंकि प्रीति या तुष्टि यहाँ आत्मा की अभिप्रेत है, न कि इन्द्रियों की। कालिदास ने **'प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'** में सम्भवतः इसी अन्तरात्मा के स्वर की ओर संकेत किया है। धर्म के चारों प्रमाणों को परखने से यह लगता है कि वे विभिन्न प्रकार के आश्वासन प्रस्तुत करते हैं। वेदों में धर्म की नियमावली या दृष्टान्तावली नहीं दी गयी है। उनको सर्वोपरि प्रमाण मानने पर भी वे बहुत से विषयों पर स्पष्ट निर्देशन नहीं दे सकते। स्मृतियों में नियमानुपूर्वी बनाने की चेष्टा हुई, किन्तु ऐसा लगता है कि बहुत दिनों तक उनका प्रचार सार्वत्रिक नहीं था। श्रुति और स्मृति का प्रामाण्य विद्वानों की अपेक्षा रखता था और एक शिक्षा-सम्प्रदाय के बाहर नहीं हो सकता था। शिक्षामूलक विद्वत्सम्प्रदाय की कठिनाई एक तो मतभेद की होती ही है, दूसरी उनके व्यवस्थाप्रेम से उत्पन्न होती है। विद्वत्प्रज्ञा नैतिकता को परिभाषित कर और व्यवस्थित कर एक कानूनी संहिता का रूप देने लगती है। जन-मानस के लिए इस प्रकार का पोथियों में लिखा हुआ और शास्त्रिओं से व्याख्यात धर्म किसी कानून और उसकी कट्टरता एवं विकारों से भिन्न नहीं हो सकते। सदाचार और आत्मतुष्टि दूसरे प्रकार के प्रमाण हैं। सदाचार प्रचलित आचार या सत्ताप्राप्त लोगों का आचार न होकर उन सत्पुरुषों का आचार है, जिनमें उदात्त आत्मगुण अभिव्यक्त हैं। पर यह आचार प्रमाण किस बात का होगा ? सत्पुरुषों का लौकिक व्यवहार तो निपुण होता नहीं। उनकी अच्छाई इस बात को ही प्रमाणित करती है कि आदर्श साध्य अर्थ है, असाध्य कल्पनाएँ नहीं। किन्तु किसी नैतिक समस्या में नियम किस प्रकार लागू होंगे, इस सम्बन्ध में सदाचार को पर्याप्त दृष्टान्त और नज़ीर बनाया जा सकता है, इसमें सन्देह है। प्रत्यक्ष नैतिक कठिनाइयों में स्मृति के नियम और सज्जनों के जीवनचरित पर्याप्त समाधान प्रस्तुत नहीं करते। उनके लिए अन्तर्विवेक का निर्देश आवश्यक होता है। यह बात परिवर्तनशील समाज और उसकी अपरिभाषित स्थितियों में अधिक स्पष्टता से लागू होती है।

धर्मशास्त्र का विकास आदर्श से व्यवस्था की ओर बढ़ता गया। उसके परवर्ती साहित्य में नैतिकता के वास्तविक प्रश्नों पर ध्यान कम है, अनुष्ठान-सम्बन्धी या कानून-सम्बन्धी परिभाषाओं और निर्णयों पर अधिक। उसकी उपयोगिता भी एक स्थिर और परिभाषित सन्दर्भ में ही हो सकती थी। धर्म की ओर यह लक्षणप्रधान और कानूनी दृष्टि जिसमें निजी विवेक एवं भाव का स्थान नगण्य हो जाता है, मीमांसकों ने विशेष रूप से पुष्ट की। मीमांसक वाक्यों के विश्लेषक थे। श्रुति-वाक्यों के तात्पर्य की व्याख्या करने में, नियमों के परस्पर सम्बन्ध स्थिर करने में और वैदिक कर्मकांड को व्यवस्थित करने में उन्होंने परिश्रम किया। वाक्य, कर्म और नियम की उन्होंने व्याख्या की। उनकी पद्धति अद्‌भुत थी, किन्तु इस प्रक्रिया में अतर्क्य आध्यात्मिक अर्थ और उसके प्रतीक खो जाते हैं, वेद कर्मकांडी कानून बन जाता है और ऋषियों का साक्षात्कार केवल तर्कसंगत बातों को प्रमाणित करने की दलील।

धर्म की प्रसिद्धतम परिभाषा मीमांसा-सूत्रों की है—'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**।'[४०] धर्म ऐसा अर्थ है जिसका पता वेद से चलता है। शबर का कहना है—'**यः श्रेयःसाधनः स एव हि धर्मशब्देनोच्यते**।'[४१] इष्टमात्र यहाँ श्रेयस् शब्द से गृहीत हैं, जैसा कि कुमारिल ने स्पष्ट लिखा है, जो द्रव्य, गुण और कर्म इष्ट-प्राप्ति के लिए वेद में बताये गये हैं, वे सभी धर्म शब्द से गृहीत होते हैं।[४२] वेद से भी यहाँ प्रवर्तक या निवर्तक वाक्य ही लिये जाते हैं, वस्तुस्थिति के अनुवादक वाक्य नहीं। जिस विशेषता से कोई पदार्थ धर्म के अन्तर्गत होता है, वह उसका दृष्ट गुण या सामर्थ्य नहीं होती, क्योंकि दृष्ट विशेषता का वर्णन प्रत्यक्ष पर आश्रित होता है। उसके लिए वेद की आवश्यकता नहीं होती है। वेदोपदिष्ट धर्म की इष्ट-साधनता अदृष्ट या अलौकिक ही हो सकती है।[४३] प्रभाकर के अनुसार धर्म एक अपूर्व नाम का पदार्थ है जो कि विहित कर्म से उत्पन्न होता है। प्राकृत पदार्थ धर्म नहीं है। इष्ट को भी वे सुखात्मक न मानकर अदुःखात्मक मानते हैं। किन्तु प्रभाकर-मत भाट्टमत की तुलना में कम प्रचलित रहा है।

अर्थ की मीमांसक व्याख्या श्रेयस् और प्रेयस् के औपनिषद भेद का त्याग कर देती है तो वह किस प्रकार समर्थनीय होगी, यह विचारणीय है। मीमांसक सुख को अर्थ मानते हैं किन्तु पारलौकिक सुख को महत्त्व देते हैं। इस पारलौकिक सुख को वे लौकिक सुख का सजातीय मानते हैं और इस कारण उन्हें साध्य के क्षेत्र में सुखवादी दर्शन से बाहर नहीं रखा जा सकता। किन्तु वे इस सुख का साधन अलौकिक और अप्रत्यक्ष बताते हैं। धर्म के ज्ञान को वे एक प्रवर्तक या निवर्तक वाक्य का ज्ञान मानते हैं, किन्तु इन वाक्यों को वेद की सीमा में मर्यादित रखते हैं। मीमांसकों की पद्धति वाक्य-गम्य कर्म-व्यवस्था के विश्लेषण में समर्थ होते हुए भी नैतिकता को सर्वथा स्वमत-निरपेक्ष या पर-

प्रत्याय्य बना देती है। अथवा वेद की अपौरुषेयता के कारण अ-स्व-प्रत्याय्य कहना चाहिए।

इसकी तुलना में मनु का धर्म-लक्षण अधिक रुचिकर प्रतीत होता है— **विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।**[४४] धर्म का पता ऐसे विद्वानों से चलता है, जो रागद्वेष-शून्य सज्जन हैं, किन्तु उसकी पहचान अन्तःकरण की निःसंशयता से होती है। कुछ व्याख्याकार हृदय के अभ्यनुज्ञान को मीमांसक-प्रसिद्ध इष्टत्व मात्र मानते हैं। किन्तु यह समझ नहीं आता कि जिसका आदर्श राग-द्वेष रहित हो कर प्रस्तुत किया जाता है, उसे अपने राग-द्वेष के सहारे कैसे पहचाना जा सकता है? धर्म को पहचानने के लिए न केवल ज्ञानी सत्पुरुष के द्वारा उसके सेवन से उसका समर्थन होना चाहिए बल्कि अपनी अन्तरात्मा से भी। नैतिक आश्वासन में निजी विश्वास और सामाजिक समर्थन दोनों जुड़े होते हैं। किन्तु दोनों का ही आधार इच्छा न होकर ज्ञान होता है। एक ओर परम्परागत आचार-सिद्ध ज्ञान, दूसरी ओर निःसंशय आन्तरिक विवेक के सिद्ध ज्ञान। इस प्रसंग में प्राभाकरीयों की आत्माकूत और स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धान की धारणाएँ स्मरणीय हैं।[४५] कर्तव्य-बोध में एक आन्तरिक स्फुरण से कर्म के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित होता है। मतान्तर में भी वाक्य-श्रवण से पुरुष-व्यापाररूपी आर्थी भावना का व्यक्त होना आवश्यक है।[४६] न्यायमत में भी कार्यता-ज्ञान का सहचर इष्टसाधनता-ज्ञान कर्म के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

धर्म को इष्टार्थ के साधक कर्त्तव्य से सम्बन्ध माना जाय या मात्र कर्त्तव्य से, इस पर मतभेद होते हुए भी धर्मशास्त्रीय परम्परा में धर्म की अदृष्टार्थता पर मतभेद नहीं है। धर्म का ज्ञान लौकिक रीति से नहीं हो सकता, उसके लिए वेद ही मुख्य प्रमाण के रूप में स्वीकार्य है। वेद-बोधित कर्त्तव्य के रूप में धर्म पुरुष-सम्पाद्य होते हुए भी मात्र पुरुषगत तत्त्व नहीं हैं। इस प्रकार धर्म न सहज लोकबोध का अंग है, न प्राकृत आत्मबोध का, यद्यपि अलौकिक साधन से प्राप्त उसका बोध आत्मबोध से जुड़ता अवश्य है। अदृष्ट विशेषता होते हुए धर्म अधिकार के द्वारा पुरुष से संयुक्त होता है। वैदिक धर्म को मनु ने सकाम पुरुष के लिए क्रियाधिकार के रूप में बताया है। उनके अनुसार न कामात्मता प्रशस्त है, न निष्कामता। वेद और वैदिक कर्मयोग कामना के योग्य विषय है। काम और कर्म, व्रत और नियम सभी संकल्प से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कर्मयोगात्मक धर्म काम पर और अन्ततः संकल्प पर प्रतिष्ठित होता है।[४७] विधि, निषेध अथवा नियम के रूप में धर्म क्रियात्मक प्रवृत्ति पर ही लागू होता है। यद्यपि काम की संकल्पमूलकता सभी स्वीकार करते हैं, मनु की यह उक्ति कि सभी क्रिया का मूल काम ही है, विवादास्पद है। यह बात न निवृत्तिपरक

अध्यात्मवाद के अनुकूल है, न प्रभाकर, कांट आदि की विशुद्ध कर्त्तव्यतावादी दृष्टि के ही अनुकूल है। मनु के इस सन्दर्भ में पुरानी वैदिक परम्परा समर्थित होती है। पुरुष का लौकिक स्वभाव उच्छेद्य नहीं है, संकल्प, काम और क्रिया उसके अंग हैं और स्वतः हेय नहीं हैं, न कर्म मात्र बन्धन है। सम्यक् संकल्प, मर्यादित काम, और नियत क्रिया मनुष्य के परम निःश्रेयस के अनुकूल साधन हैं। **'तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम्। काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः।**[४८] याज्ञवल्क्य ने तो **'सम्यक्-संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।**[४९] कह कर विवेकसम्मत इच्छा को स्पष्ट ही धर्म का एक मौलिक प्रमाण बताया है।

यदि धर्म-शास्त्र का मीमांसा-दर्शन के साथ अध्ययन किया जाय तो यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होगी कि इस परम्परा में धर्मो का वर्णनमात्र किया गया है ताकि नैतिकता की दृष्टि से धर्म-तत्त्व का विवेचन नहीं किया गया है। किन्तु यह सही है कि धर्म-शास्त्रों में जो कि आचार एवं व्यवहार में उपयोग की दृष्टि से संकलित थे, धर्म के सामान्य पक्ष को संक्षेप से एवं वर्णाश्रम-धर्म के रूप में विस्तार से वर्णित किया गया है। सामान्य धर्म आदर्श आत्मगुण हैं, वर्णाश्रम धर्म विधि-निषेध के रूप में है। सामाजिक स्थिति के अनुरूप दायित्व का निर्वाह ही वर्णाश्रम धर्म का सार है और इसी लिए उसमें अधिकार स्वेच्छा से निर्णीत न हो कर सम्बन्ध-जन्य अथवा सम्बन्ध-जन्य अवस्था से जन्य होता है। दूसरी ओर सामान्य धर्म असीमित और सार्वभौम होते हैं। वे मनुष्य मात्र के लिए विवेकी होने के नाते ही आदर्शत्वेन व्यक्त होते हैं। उन्हें विधि-प्राप्त कहना शब्दों का अपप्रयोग ही है। वस्तुतः उनमें कर्मात्मकता की तुलना में ज्ञानात्मकता ही प्रधान है। वे मूलतः आत्मगुण होने से चेतना की विशेषता हैं, न कि अनुष्ठेय की विशेषता। उनमें करने और पाने की बात नहीं है। बात है आदर्श बनने की। इस आत्मसाधना का निर्देश भी आन्तरिक स्वातंत्र्य में ही हो सकता हैं, न कि बाह्य नियमों से।

सामान्य धर्मों की विशेष चर्चा अध्यात्मपरक चिन्ताधारा के सन्दर्भ में मिलती है। उपनिषदों में सदाचार आत्मज्ञान का अनुबन्ध है। **महाभारत** और **भगवद्-गीता** में परमार्थ-पर्येषणा के प्रसंग में आचार और चरित्र के मौलिक शोधन और योग्यता-सम्पादन का प्रश्न विवेचित है। बौद्ध और जैन आगमों में आत्म-शुद्धि और चित्तशुद्धि की संसार और मोक्ष के सन्दर्भ में में व्याख्या की गयी है।

सूत्रकाल में दो विरुद्ध धाराएँ एक साथ प्रकर्ष को प्राप्त कर रही थीं। एक ओर नाना छोटे और विप्रकीर्ण लौकिक समाज एक बृहतर राष्ट्रीय समाज में समाहित हो रहे थे, और इस प्रकिया में धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय

व्यवस्थाओं का निर्माण हो रहा था; दूसरी ओर ऐकान्तिक आध्यात्मिकता से प्रेरित नाना परिव्राजक समुदाय मानवीय मन की प्राकृतिक व्यवस्था के परिष्कार और अतिक्रमण का अनुसन्धान कर रहे थे। सभी के विचार का केन्द्र धर्म ही था। राजतन्त्रीय व्यवस्था में धर्म की नियामकता दंडशक्ति पर आधारित थी। समाज-व्यवस्था में वर्णाश्रमाद्यभिमान-सापेक्ष कर्तव्यता के भाव की प्रेरणा के रूप में धर्म की नियामकता थी। आध्यात्मिक जीवन में मुक्ति और शान्ति के आकर्षण के रूप में धर्म की नियामकता थी। इनमें किसी में भी साध्य-साधन-भाव कार्यकारण-भाव नहीं हैं। सभी में धर्म ज्ञानविशेष की नियामकता है। एक में यह ज्ञान नीतिरूप है, दूसरे में अपौरुषेय विधि-वाक्य का ज्ञान है, तीसरे में आध्यात्मिक है। एक ओर धर्म कार्य-नियोग के रूप में प्रतीत होता है, दूसरी ओर भाव्य अर्थ के रूप में। इसमें अन्यतर पक्ष को खींचतान कर दूसरे पर प्रभावी किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि आत्मगुणों की भावना एक विहित कर्तव्य है। यह भी कहा जा सकता है कि विधि-विहित कर्मों को निष्कामभाव से आत्म-शुद्धि के लिए करना चाहिए।

भगवद्गीता में यही दूसरा दृष्टिकोण मिलता है। गीता में वेदवाद और उसके कर्म-विधान को मात्र भोगार्थक बताकर योग से नीचे स्थान दिया गया है। राग-द्वेष से प्रयुक्त कर्म मनुष्य के लिए बन्धन के कारण होते हैं। मुक्ति के लिए निष्काम भाव से बुद्धि की प्रेरणा से किये कर्म को योग की संज्ञा दी गयी है। लौकिक कर्म फल के लिए किया जाता है, अलौकिक कर्मों में भी स्वर्गादि फल की आकांक्षा की जाती है। फलाभिसन्धि न रहने पर कर्म का प्रयोजक क्या होगा ? इसके उत्तर में बुद्धि की ओर ही निर्देश किया जा सकता है। पर यह बताना पड़ेगा कि वह कौन-सी बुद्धि अभीष्ट है और उसकी क्या पहचान है। व्यवसायात्मक ज्ञान-शक्ति के रूप में बुद्धि एक होते हुए भी संस्कार, विषय और प्रयोजक के अनुसार भिन्न होती है। रागद्वेषादि क्लेशों से एवं उनके संस्कारों से मुक्त निर्मल बुद्धि का आत्मविषयक होना सहज है। प्रकारान्तर से यही बुद्धि सम्यग्दर्शिनी, समदर्शिनी या समत्व-बुद्धि है। इस बुद्धि में प्रतिष्ठित होने पर सहज आत्मबोध ही कर्म का आधार होता है। यही स्थितप्रज्ञ की अवस्था है। वस्तुतः इस सहज भाव में लोकपरिचित कर्तृत्व विगलित हो जाता है एवं कर्म और अकर्म का भेद भी नहीं रह जाता; किन्तु वह एक आदर्श स्थिति है। इसे सिद्ध किस प्रकार किया जाय, कर्मयोग को व्यावहारिक रूप किस प्रकार दिया जाय, यह प्रश्न समाधेय रहता है। वस्तुतः आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों में यह मौलिक कठिनाई उपस्थित होती है कि उन्हें व्यावहारिक नियमों और अवधारणाओं में ग्राह्य रूप कैसे दिया जाय। इस प्रसंग में भगवान् शंकराचार्य ने अति मार्मिक बात कही है कि आध्यात्मिक आदर्श स्वयं

ही भावनात्मक रूप में साधन होते हैं—**'सर्वत्रैव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थ-लक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्, यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवन्ति तानि ।**[५०] जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ के आदर्श को अपनाने से ही उसकी प्राप्ति होती है। आदर्श की आत्मिकता के कारण उसकी प्राप्ति न तो अपूर्व पदार्थ का उत्पादन है, न किसी आगन्तुक धर्म से संयोग। नित्यसिद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए किसी पारमार्थिक कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं होती। आदर्श के स्वीकार करने से ही वह जीवन में उतरने लगता है। इस तत्त्व की उपेक्षा कर जो अध्यात्मसाधना को नाना लक्षणों से परिभाषित और विधि-विधान से संकुल करते हैं, वे अनजाने में ही आदर्श के मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। किन्तु साधना के इतिहास में यह बार-बार हुआ है। उदाहरण के लिए, बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित जीवन्मुक्ति की मध्यमाप्रतिपदा अभिधर्म के गहन कानन में क्रमशः लुप्त हो गयी। इसी लिए अष्ट-साहस्रिका प्रज्ञापार-मिता के प्रारम्भ ही में उपासक सुभूति ने अभिधर्म के सभी प्रसिद्ध तत्त्वों की सत्ता को ही मानना अस्वीकार कर दिया और साधना का स्वरूप बस इतना ही बताया—**"यत्र चित्तम् अचित्तं भवति"**—जहाँ चित्त अचित्त हो जाता है।[५१]

नैतिक क्षेत्र में यह समस्या और भी दुरूह रूप से सामने आती है। फल की अभिसन्धि छोड़ देने पर, राग और द्वेष की प्रेरणा को अस्वीकार कर देने पर, कर्म किस युक्ति अथवा नियम के अनुसार किया जायगा? कर्म के निर्देश के लिए न तो सहज प्रयोजन विद्यमान है, न उसके फल में आग्रह है। कैसे कर्म में प्रवर्तन होगा? कैसे उसका नियमन? एक सामान्य सूत्र जिसका गीता में उल्लेख मिलता है वह है—आत्मौपम्य। अपने और दूसरों में समानता देखने के रूप में आचार का सूत्र प्राप्त होता है।[५२] एक अन्य सूत्र है कर्म की यज्ञरूपता। त्यागपूर्वक किया गया कर्म जिसका फल ईश्वर को अर्पित किया गया है, यज्ञ का ही रूप धारण करता है।[५३] लोकसंग्रह की भी गीता में चर्चा मिलती है। स्वयं न चाहते हुए भी लोकहित के लिए कर्म किया जा सकता है।[५४] किन्तु तीनों ही सूत्रों में, आत्मौपम्य, यज्ञ, और लोक-संग्रह में, यह प्रश्न असमाहित रहता है कि कर्म का ठोस विषय होगा क्या? कर्म किसी दृष्टि से किया जाय इसकी तो व्याख्या मिलती है, किन्तु क्या किया जाय, इसका उत्तर नहीं मिलता है। क्या आत्मौपम्य का अर्थ यह है कि मनुष्य जैसा चाहे वैसा करे यदि औरों को भी यही स्वेच्छाचार दिया जा सके? पर गीता में स्पष्ट ही स्वेच्छाचार या काम-कार को शास्त्रविधि के सम्मुख हेय बताया है।[५५] कर्म के विषय सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर गीता में स्वधर्म के सिद्धान्त के द्वारा दिया गया है।[५६] स्वधर्म सामान्य धर्म और वर्णाश्रम धर्म को जोड़ता है। आदर्श जीवन-यापन के लिए प्रयत्नशील मनुष्य अपनी सामाजिक स्थिति से प्राप्त कर्तव्यों का पालन करता है। उसका ध्यान

अपनी इच्छाओं के अनुरूप समाज की रचना अथवा उसमें अपना अभीप्सित स्थान बनाने में न जा कर, समाज-व्यवस्था के द्वारा अपने अधिकार के अनुसार निर्णीत कर्तव्यों के पालन पर जाता है। श्रोत्रिय का कर्म हो अथवा मछुए का, स्वधर्म की दृष्टि से दोनों बराबर हैं।[५७] क्या किया जाता है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। विधान का कर्तव्य की भावना से पालन किया जाना, यही महत्त्वपूर्ण है। नैतिकता कर्तव्य की प्रेरणा को स्वीकार करने में है, कर्तव्य कर्म की अपनी विशेषता में नहीं। इस प्रकार का कर्तव्य पालन चित्त-शुद्धि का साधन है, यह सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त था।

जो व्यक्तियों के कर्तव्य बनते हैं, वे कर्म ही अपनी व्यवस्थित समष्टि के रूप में समाज का क्रियात्मक रूप निर्धारित करते हैं। यह सामाजिक कर्म-व्यवस्था और उसके कर्ताओं की आधिकारिक उपाधियाँ संयुक्त रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था का रूप धारण करती हैं। इस व्यवस्था के प्रचलित रूप को गीता में दिव्य सृष्टि के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यह स्वीकार वैसा ही है जैसे सकाम यज्ञ-विधान अथवा नाना देवी-देवताओं और उनकी उपासना का। इन पारम्परिक मान्यताओं का अनुपालन ही गीता में श्रेयस्कर माना है यद्यपि इनके पालन की मनोवृत्ति के परिवर्तन की बात पर जोर दिया है। कर्म को यद्यपि मनीषियों ने सदोष बता कर त्याज्य कहा है, तो भी यज्ञ, दान और तप का करते रहना बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करता है।[५८] यह स्मरणीय है कि ये कर्म आश्रम सम्बन्धी हैं। ऐसे ही चातुर्वर्ण्य में कर्मों के विभक्त होने पर भी अपने-अपने कर्मों में लग कर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार के कर्म को ईश्वर की अभ्यर्चना ही मानना चाहिए। स्वधर्म गुण-रहित होने पर भी पर-धर्म से श्रेष्ठ है। जहाँ तक कर्मगत दोष की बात है वह किसी विशेष कर्म का ही अधिकार नहीं है। **"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"**[५९] स्पष्ट ही गीतोक्त धर्म में कर्म का स्वीकार व्यवहार और परमार्थ के बीच एक सेतु के रूप में है। व्यावहारिक जीवन के मध्य में उसे छोड़े बिना मन के परिवर्तन से अध्यात्म-यात्रा का सम्पादन ही कर्मयोग है। मनु के वैदिक कर्म-योग से इसमें अन्तर है। मनु का धर्म व्यवस्था-प्रधान है, कर्मयोग व्यवस्था के अन्तराल से स्वधर्म का पालन है। मनुप्रोक्त धर्म पौरुष क्रिया-शक्ति का अदृष्ट नियमों के अनुसार प्रयोग है। गीता में व्यवस्था का महत्त्व इतना ही है कि वह अनासक्त कर्मयोग के आचरण के लिए एक आधिभौतिक या सामाजिक अवकाश प्रदान करती है। कर्मयोग स्वयं बुद्धि में अवस्थिति है, बिना क्रिया को छोड़े। उसमें क्रिया की पूर्णता के स्थान पर ज्ञान की ही पूर्णता का सम्पादन होता है। क्रिया तो प्राकृतिक गुणों पर निर्भर और सापेक्ष होती है। निर्दोष परमेश्वर को समर्पण में ही उसकी प्रतिपत्ति है।[६०]

सामाजिक सम्बन्ध सकाम पुरुष की क्रिया के अनुबन्धी हैं। वर्णाश्रम धर्म उन सम्बन्धों और क्रियाओं का विधान है। मर्यादित कर्म-जीवन में ही मानवीय सिद्धि है, यह धर्मशास्त्रीय परम्परा का स्थिर सिद्धान्त है। किन्तु श्रमण-परम्परा में यह दृष्टि स्वीकार नहीं होती। कर्म-विधान और सामाजिक सम्बन्ध काममूलक हैं। काम अविद्यामूलक है। **अविद्याकामबीजं हि सर्वमेवकर्म।** अज्ञान से अहं और मम का भाव उत्पन्न होता है। उससे तृष्णा और उससे विषय की ओर कर्मात्मक प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति के विविध आयाम कुटुम्ब, अर्थार्जन, प्रशासन, पारलौकिक अनुष्ठान आदि हैं। बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद में कर्म के उन्हीं सूक्ष्म निदानों की आनुपूर्वी विश्लेषित है। शंकराचार्य का कहना है—'**क्रियाकारकफलभेदबुद्धिरविद्ययात्मानि नित्यप्रवृता मम कर्माहंकर्त्ता अमुष्मै फलमिदं कर्म करिष्यामीति इयमविद्या अनादिकालप्रवृत्ता।**'[६१] वर्णाश्रम आदि से जो सामाजिक व्यक्तित्व बनता है और जिससे कर्म में अधिकार उत्पन्न होता है उसे अद्वैती, औपाधिक, बौद्ध सांवृत कहते हैं। व्यावहारिक और अनादिकालिक प्रवाह होते हुए भी संवृति पारमार्थिक या नित्य नहीं है। नैसर्गिक होते हुए भी लोकव्यवहार हेय-पक्ष में पर्यवसित होता है। धर्मशास्त्र की दृष्टि से जो कर्मविधान और उसके अनुबन्धी वर्ण और आश्रम अलौकिक सत्य हैं, वही उन्हें संवृति कहने से मात्र लोकावस्थिति के तत्त्व प्रतीत होते हैं। धर्म इस स्थिति का लोकोत्तर विधान होने के स्थान पर उसका अनुवर्तन करता है। **"या या लोकस्थितिस्तां तां धर्मः समनुवर्तते। धर्मादपि ततो लोको बलवानिव दृश्यते॥"**[६२] इस स्थल पर वैदिक और अवैदिक निवृत्ति मार्गी सम्प्रदायों में भेद हैं। वैदिक सम्प्रदाय प्रवृत्तिधर्म को अविद्या-सापेक्ष मानते हुए भी उसे वेदोपदिष्ट मानने के कारण अलौकिक मानते हैं, किन्तु श्रमण सम्प्रदाय प्रवृत्ति धर्म को मात्र लौकिक मानते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे नैतिकता को सामाजिक रूढ़िमात्र या लौकिक स्थिति की ही विशेषता मानते थे। वे कर्मफल-सम्बन्ध को नैतिकता का नियामक मानते थे और इस नियम को विधि से स्वतन्त्र पर मनोभाव पर आश्रित। कर्म-फल-नियम सभी को मान्य था किन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदाय उसे स्वतन्त्र मानते थे, वैदिक सम्प्रदाय उसे अपौरुषेय नियोग या ईश्वरेच्छा से अधिकृत मानते थे।

अध्यात्मवादी परम्परा में धर्म द्विधा-विभक्त हो जाता है। प्रवृत्तिधर्म कर्मात्मक है, पर उसका सार स्वेच्छा में न हो कर नियम में है। निवृत्तिधर्म का रूप कर्मत्याग है और उसका सार ज्ञान है। एक लौकिक वृद्धि और समृद्धि का मार्ग है। दूसरा मुक्ति का। इस वैचारिक स्थिति का निरूपण वैशेषिक सूत्रों की प्रसिद्ध परिभाषा में मिलता है—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**'[६३] मीमांसा-सूत्रों का 'अर्थ' यहाँ दो में बँट गया है, किन्तु इन दो अत्यन्त विभक्त

साध्यों का समान रूप से साधन होने के लिए धर्म का क्या कोई समान लक्षण सम्भव है अथवा धर्म शब्द से भी दो भिन्न जाति के साधन समझने चाहिए ? यह विचारणीय है कि जहाँ सूत्रकार ने दो साध्यों के लिए दो अलग-अलग शब्द प्रयुक्त कर उनमें जाति-भेद सूचित किया है, उन्होंने उनके साधनों के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त किया है। वस्तुतः धर्म का मौलिक स्वरूप विवेक ही है जो प्रथमावस्था में सत् और असत् का भेद कर प्रवृत्ति को मर्यादित करता है, और अधिक विकसित हो कर आत्मा और अनात्मा का भेद कर प्रवृत्ति को निरुद्ध करता है। इस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म में एक पौर्वापर्य देखा जा सकता है। प्रशस्तपाद के अनुसार अपने वर्ण और आश्रम के लिए वेदोक्त साधनों के शुद्ध अभिप्राय से पालन द्वारा अद्वितीय आत्मगुण के रूप में धर्म उत्पन्न होता है। संन्यास आश्रम में निष्काम भाव से तत्त्वज्ञान का अभ्यास निवृत्तिरूप धर्म को उत्पन्न करता हैं। और वही निःश्रेयस तक पहुँचाता है—**'निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्तते।'**[६४] इस पर श्रीधर का कहना है कि मुक्ति ज्ञान मात्र से नहीं होती बल्कि ज्ञान और कर्म के समुच्चय से होती है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अधिकार से निवृत्ति होने के कारण उनके न करने में अपराध होता है। काम्य कर्म अवश्य छोड़े जा सकते हैं किन्तु कुछ कर्म तो जीवन्मुक्त के लिए भी मृत्युपर्यन्त शेष रहते हैं—**'विहितान्यनुष्ठेयानि यावदात्मतत्त्वं न स्फुटीभवति। स्फुटीकृतात्मतत्त्वस्यापि जीवन्मुक्तस्य तावत्कर्माणि भवन्ति यावच्चानुवर्तते।'** ज्ञान और विहित कर्मों में दोनों ही बन्धनकारक कर्मों के प्रतिबन्धक होने से सहकारी होते हैं।—

> **कर्मणां सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानेनात्मविनिश्चयः।**
> **भवेद्विमुक्तिरभ्यासात् तयोरेव समुच्चयात् ॥**[६५]

इस दृष्टि में कर्म को नित्य मानने का कारण है उसके अधिकार को नित्य मानना और अधिकार को नित्य मानने का आधार है ब्राह्मणत्व आदि जाति को वस्तुभूत और अपरिवर्तनीय मानना। पर सामाजिकता आभिमानिक है कि वास्तविक, इस प्रश्न पर अनेक मत मिलते हैं। निवृत्तिमार्गी उसे आभिमानिक ही मानते हैं क्योंकि वे आत्मा के देहाभिमान को ही अज्ञानमूलक समझते हैं। उनकी दृष्टि ज्ञान और मुक्ति को कर्म-विधान रूपी धर्म से दूर रखती है। किन्तु उनका पारम्परिक सम्बन्ध वह भी स्वीकार करती है। बौद्ध और जैन सम्प्रदाय संसार-त्यागी भिक्षुओं के अतिरिक्त कर्मरत उपासकों को भी अपने साधकों में गिनते थे। उपासकदशा में नैष्कर्म्य का स्थान सम्यक्कर्म और सम्यगाजीव ले लेते हैं। इस प्रकार का जीवन-यापन भी मुक्ति के लिए परम्परया उपयोगी था। शंकराचार्य यह स्वीकार करते हैं कि कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि होती है और वह ज्ञान-साधना में

सहायक है। इसको समुच्चयवाद न कहें तो समन्वयवाद तो कहा ही जा सकता है। महायान में तो पारमिता-साधन में न प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद पारमार्थिक रहता है, न कर्म के क्षेत्र में मात्र विधान की शुचिता और सूक्ष्म अनुपालन का ही महत्त्व रहता है। महत्त्व रहता है मनुष्य की बोधि-पाक्षिक शक्तियों के विकास का। पारमिता का अर्थ है पूर्णत्व और पारमिता-साधन समस्त विश्व के बोधन की साधना है।

सभी आस्तिक सम्प्रदाय, प्रवृत्तिपरक हों या निवृत्तिपरक, विधिमूलक कर्म के महत्त्व का सर्वथा अस्वीकार नहीं करते थे। उनकी धर्म की व्याख्या में समुच्चय अथवा पौर्वापर्य के द्वारा कर्म और ज्ञान का समन्वय देखा जा सकता है और कर्म के क्षेत्र में वेद ही उनके लिए प्रमाण थे। प्रकारान्तर से कहा जाय तो वे अध्यात्म साधना में वर्णाश्रमधर्म की उपयोगिता स्वीकार करते थे।

वैदिक परम्परा में धर्म सामाजिक कर्मजीवन और आध्यात्मिक जीवन के सेतु के रूप में प्रतिपन्न है। बौद्ध मत में धर्म मुख्यतया आध्यात्मिक है। नैतिकता उसमें चित्त की विशेषता के रूप में भावित होती है जबकि पारम्परिक वैदिक मत में वह सामाजिक व्यवहार की विशेषता है। बौद्ध नैतिक दृष्टि विशेष रूप से व्यक्ति की प्रातिस्विक साधना बन जाती है। यद्यपि उपासक धर्म के रूप में बौद्धों ने सामाजिक जीवन के लिए एक शील का ढाँचा रचा था और यद्यपि यह उपासक शील मज़हबी मान्यताओं, संकीर्णताओं और अनुष्ठानों से मुक्त था एवं पश्चिमी बुद्धिवादी नैतिक आदर्श के निकट, फिर भी इसका प्राचीन काल में सामाजिक व्यवस्था को विशेष योगदान न हो सका। आचार-विषयक आदर्शों को गम्भीरता से प्रभावित करते हुए भी, जैसा कि उदाहरण के लिए फाइयेन के विवरण से विदित होता है, बौद्ध उपासकगण ने समाज व्यवस्था को उसकी चिर-परिचित और अभ्यस्त वर्णाश्रम व्यवस्था के हाथों में ही रहने दिया। जातिवाद का बौद्धों ने खंडन अवश्य किया और नाना युक्तियों से यह प्रमाणित किया कि जातियाँ वस्तुतः जन्म से निर्धारित नहीं हो सकतीं और न उनके अन्दर ऊँच-नीच का भाव संगत है,[६६] किन्तु वे वैदिक व्यवस्था के स्थान पर किसी समर्थ व्यवस्थान्तर की कल्पना नहीं कर पाये। अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया था वह बौद्धों का उपासक धर्म नहीं तो उसके अत्यन्त सन्निकट था। जिसे आजकल एक सार्वभौम बुद्धिमूलक और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता कहेंगे, वैसा ही अशोक का धर्म था। अशोक ने कहा है कि संयम और भाव-शुद्धि सार्वत्रिक आदर्श है।[६७] सब धर्म-सम्प्रदायों में पारस्परिक समन्वय श्रेष्ठ है। सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह सबका धर्म है, दुर्भाव त्याज्य है और समता मान्य सिद्धान्त है। किन्तु इस अत्यन्त श्लाघनीय धर्म का कोई ऐतिहासिक प्रभाव प्रमाणित नहीं होता। ऐसा लगता है कि लौकिक जीवन में सामान्य

जनता आचार-व्यवहार की परिचित स्थितियों के लिए अपेक्षित कर्म-सूत्रों की माँग करती है, न कि अनुभव को उसकी तात्त्विकता में समझाने वाले ज्ञान-सूत्रों की। वैसे भी जैसा हार्टमान ने कहा है, चेतना के सूक्ष्म स्तरों में स्थायिता अधिक रहते हुए भी उसके स्थूल स्तर बलवत्तर होते हैं।[६८] इसका परिणाम यह है कि विशुद्ध नैतिकता के उपदेश स्थूल ऐतिहासिकता के स्तर पर तब तक प्रभावशाली नहीं हो पाते, जब तक वे दृढ़ संस्थागत आधार नहीं पाते। उदयनाचार्य का कहना है कि गर्भाधान से ले कर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त वैदिक क्रियाओं का बौद्ध उपासक भी अनुष्ठान करते थे, यद्यपि वे इन क्रियाओं को सांवृत कहते थे,[६९] श्वान-च्वांग ने भी अपने समय के भारतीय बौद्ध आचार्यों की जाति आदि का विशेष उल्लेख किया। यह स्पष्ट है कि सिद्धान्ततः वर्णाश्रम धर्म को अस्वीकार करते हुए भी बौद्ध परम्परा अपने उपासकगण के लिए अपने इस सिद्धान्त को चरितार्थ करने में समर्थ नहीं हुई। किन्तु यह भी स्मरणीय है कि सिंहल, बर्मा आदि देशों में बौद्ध उपासकों को अपने पृथक् और व्यवस्थित अस्तित्व बनाये रखने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकालना शायद ठीक होगा कि लौकिक समाज के सन्दर्भ में शीलमूलक व्यवस्था को स्थापित न कर सकने की बौद्ध असमर्थता वैदिक परम्परा की सुदृढ़ता के कारण ही थी। चीन के इतिहास से भी यह प्रमाणित होता है। वहाँ भी बौद्ध धर्म एक पुराने और प्रतिष्ठित समाज में प्रविष्ट हुआ और यद्यपि उसने चीनी आचार-विचार को प्रभावित किया, वह कनफ़्यूशियन व्यवस्था के सामने अन्ततोगत्वा न टिक सका।[७०]

भिक्षुओं के लिए बुद्ध के द्वारा कल्पित विधान प्रारम्भ में सरल और अन्य परिव्राजकों के प्रचलित आचार के समान था।[७१] यह प्रचलित आचार पाँच महाव्रतों पर आधारित था। परिव्राजकों से यह आशा की जाती है कि वे परिग्रहहीन अवस्था में बस्ती से दूर एकाकी विचरण करें। उन्हें समाज और लौकिक जीवन से कुछ भी प्राप्तव्य न था, उनका एकमात्र लक्ष्य था ज्ञान और वैराग्य के प्रयास के द्वारा मुक्ति की साधना। ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में न केवल परिवार और सम्पत्ति का त्याग था, बल्कि काम और अहंकार का। अहिंसा में केवल द्वेष का त्याग नहीं था, वह 'स्व' और 'पर' के द्वन्द्व में अलिप्तता थी। 'योगभाष्य' में कहा गया है कि योगी के सभी व्रतों का मूल अहिंसा ही है।[७२] आर्यदेव ने अहिंसा को परमधर्म बताया है।[७३] जैन आगमों में अहिंसा की चर्चा पूर्ण नैष्कर्म्य में ही पर्यवसित होती है।[७४]

बौद्ध भिक्षुओं की प्रारम्भिक खड्गविषाणोपम एकान्तचर्या क्रमशः विहारों की सांवासिकता में परिवर्तित हो गयी। यह विहार प्रथा कितनी विकसित और विस्तृत हुई, इसका वर्णन अनावश्यक है। बौद्ध विहारों की समृद्धता, कला-

प्रेम, शिक्षा-केन्द्रों के रूप में कार्य एवं साहित्य रचनाओं को योगदान सुविदित है। वे न केवल आध्यात्मिक परम्परा के संरक्षक थे अपितु बौद्ध देशों में जन-जीवन के केन्द्र थे। उनके संगठन में स्थानीयता और सार्वभौमिकता एक गण-तन्त्रात्मक रीति से समन्वित थीं। विश्व-भर में धर्म के प्रचार के लिए चातुर्दिश महासंघ ने अद्भुत कार्य किया और देशान्तर तक उन्होंने जो सफलता पायी उसका इतिहास अविदित नहीं है। भिक्षु जीवन की एकान्तचर्या का गण-राज्यों के संगठन के साथ विहार-व्यवस्था में एक अपूर्व मिश्रण था।

भिक्षु-धर्म सामान्य धर्मों का निवृत्तिपरक संस्करण था। इस निवृत्तिपरकता को विहार-जीवन की सांवासिकता से समन्वित करना सरल कार्य नहीं हो सकता था। यह सही है कि विहार राजाओं, श्रेष्ठियों और श्रेणियों के दान पर प्रतिष्ठित थे, और उन्हें आर्थिक जीवन में उस प्रकार की संलग्नता अपेक्षित नहीं थी जैसे कि लौकिक व्यवहार में। किन्तु तो भी प्रचुर सम्पत्ति की व्यवस्था उन्हें करनी ही पड़ती थी। विहार-जीवन एक पृथक् समाज अवश्य है, किन्तु समाज होने के नाते उसमें व्यवस्था के प्रश्न लौकिक समाज से तुलनीय रहते हैं। विशुद्ध समाज का आदर्श कहाँ तक विहार-जीवन में प्रतिबिम्बित था, यह तो उसके प्रत्येक युग और विभाग के लिए कहना सम्भव नहीं है। किन्तु एक विशुद्ध समाज की कल्पना ही एकाकी भिक्षु की कल्पना से समंजस नहीं लगती या यह मानना चाहिए कि प्रकारान्तर से लोकनिवृत्त भिक्षुओं का विहार-वास निवृत्ति और सामाजिकता को एक नये सूत्र में बाँधता है। जीवन-निर्वाह के लिए भिक्षु सामाजिक दान पर आश्रित होते हैं और समाज उनसे शिक्षा-दीक्षा की अपेक्षा करता है। इस दृष्टि से भिक्षु-समुदाय का एक नया ब्राह्मण समाज बन जाता है, जोकि अध्ययन-अध्यापन, ध्यान और देशना एवं दान के स्वीकार और उपयोग के कार्य से मुक्त नहीं था। अवश्य ही भिक्षु अपरिग्रही थे। किन्तु सच्चे ब्राह्मण से भी मनु आदि स्मृतिकार अल्पपरिग्रह की ही आशा करते हैं। भिक्षु जिस प्रकार के अनुशासन में रहते थे उसकी अंशतः तुलना वैदिक ब्रह्मचर्य-वास से की जा सकती है, किन्तु संघ का संचालन भिक्षु स्वयं ही करते थे।

वैदिक परम्परा में भी मुक्तचर्या के लिए संन्यास आश्रम का विधान किया गया। अन्यत्र मैंने इस कल्पना के उपपादन का प्रयत्न किया है कि चतुर्थ आश्रम का विधान सूत्र-युग में श्रमण परिव्राजकों के दृष्टान्त से प्रभावित होकर किया गया।[७१] संन्यासियों से भी प्रारम्भ में एकान्तचर्या की आशा की जाती थी और एक मात्रा तक उनका अकेलापन और बिखराव सदा ही चलते रहे हैं। किन्तु ब्राह्मण संन्यासियों में भी नाना समुदायों के प्रचलन से समान गुरुओं की शिष्य-मंडलियों का आविर्भाव स्वाभाविक था और उसके परिणामस्वरूप उनका

मठादि में निवास। सामान्यतया यह माना जाता है कि शंकराचार्य ने सर्वप्रथम बौद्ध विहारों के समान मठ-पद्धति की ब्राह्मण संन्यासियों में अवतारणा की। किन्तु ब्राह्मण संन्यासियों के लिए आश्रम के रूप में उनकी स्थिति का स्वीकार ही उन्हें सामाजिकता की परिधि में डाल देता है। मठ-वासिता कोई नया सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं खड़ा करती। आश्रम-व्यवस्था की कल्पना ही अपने पूर्ण रूप में प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और संन्यास, आध्यात्मिकता और सामाजिकता का एक आनुपूर्वी के द्वारा समन्वय प्रस्तुत करती है।

जहाँ वैदिक परम्परा में मनुष्य को उदात्त जीवन का संकेत समाज-व्यवस्था के द्वारा प्राप्त कर्तव्यों के माध्यम से होता था और इस प्रकार धर्म का धारणात्मक अर्थ प्रधान रहता था, बौद्ध परम्परा में धर्म का मुख्य अर्थ परमार्थ ही था। सम्बोधि में बुद्ध ने धर्म की प्राप्ति की, ऐसा विवरण आता है। धर्म ही वह परमार्थ है जिसके साक्षात्कार ने गौतम को बुद्ध बना दिया। धर्म की नाना व्याख्याएँ की गयी हैं। अभिधर्म में धर्म को कालिक क्रिया-प्रवाह के अकालिक अधिष्ठान के रूप में विश्लेषित किया गया है।[७६] महायान में धर्मकाय की कल्पना भी इसी प्रकार की है[७७] किन्तु जहाँ अभिधर्म में कालिक कारित्र अपने आधारभूत धर्म का स्वभाव या लक्षण है, धर्मकाय के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। कालिक प्रवाह में धर्मकाय व्यक्त नहीं होता, कालिक प्रवाह वस्तुतः धर्मकाय की अगाध अनिर्वचनीयता में लुप्त मानना चाहिए जैसे माया निर्गुण ब्रह्म में। ये दोनों अर्थ, हीनयानी और महायानी, दो प्रतियोगी अन्त या ध्रुव हैं जिनके अन्तराल में धर्म शब्द का संचार देखा जा सकता है। नाना वस्तुएँ भी धर्म हैं, नित्य सत्य भी धर्म है। इन दोनों के बीच का सेतु मार्गरूप में धर्म है। सद्धर्म अथवा आर्यधर्म उपदेश के विषय एवं मार्ग-सत्य का विशेष रूप से संकेत करता है। बुद्ध ने जिस धर्म को पाया और बताया उसके निश्चय ही दो भाग किये जा सकते हैं। एक पारमार्थिक, जो कि साध्य कहा जाना चाहिए और दूसरा व्यावहारिक, जोकि साधन कहा जाना चाहिए। उपदेश और साधना का सन्दर्भ एक व्यावहारिक सन्दर्भ है। उसमें परमार्थ, परिनिष्पन्न वस्तु होते हुए भी साध्य के रूप में देखा जा सकता है। साधन-व्यवहार स्वयं मार्ग रूप है जो कि सामान्य व्यवहार के एक संवेगजनक बिन्दु से प्रारम्भ होता है। पारमार्थिकता, साध्य और साधन, इनमें व्याप्त धर्म शब्द का मूल अर्थ क्या कहना चाहिए ? परमार्थ अपना नियामक है। व्यवहार में सब कुछ नियत होते हुए भी अपने से नियत नहीं है। परमार्थ और व्यवहार को सम्बद्ध मानें या अभिन्न, उनका सामान्यतम लक्षण एक प्रकार के नियम्य-नियामक सम्बन्ध में ही मिलता है। इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है। और उसी में धर्म का स्वरूप व्यक्त होता है। इस स्वरूप को दो स्तरों पर

सामान्यतया समझा गया है। एक तात्त्विक, दूसरा मनोवैज्ञानिक। इनमें तात्त्विक पक्ष निर्विकल्प प्रज्ञा का ही गोचर है। प्रोफ़ेसर सुजुकी एक बार मुझसे कहते थे कि यह निर्विकल्पक प्रज्ञा सहज निर्विकल्पक कर्म से अभिन्न है। गीता में कर्मयोग और बुद्धि का अभेद भी सम्भवतः इसी प्रकार का है। यह अभेद ऐसे आध्यात्मिक स्तर का है जो द्वन्द्वातीत है। द्वन्द्वात्मकता के व्यावहारिक स्तर पर प्रतीत्यसमुत्पाद का मनोवैज्ञानिक रूप देखा जा सकता है। जिस कार्य-कारण-भाव से समस्त जीवन नियन्त्रित है, उसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक ही है। **'मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।'** अविद्या, अहंकार और तृष्णा मन को दुःख की ओर ले जाते हैं जबकि विद्या और वैराग्य उसे मुक्ति की ओर ले जाते हैं। कर्म का स्वरूप संकल्पात्मक चेतना है और कर्म की अच्छाई और बुराई इस पर निर्भर है कि किस प्रकार के मानसिक भाव उसके साथ सम्पृक्त हैं।[७८] इन सम्प्रयुक्त धर्मों की शुद्धता पर ही सत्कर्म निर्भर हैं। नैतिकता के मनोवैज्ञानिक नियामकों का इस परम्परा में विस्तृत विवेचन है।

वैदिक वाक्यों की मीमांसा का स्थान बौद्धों के धर्म विवेचन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने ले लिया है। धर्म का अर्थ बाहरी व्यवस्था के पालन के स्थान पर मन के नियमों का परिज्ञान हो जाता है। दोनों ही दृष्टियों में अपूर्णता लगती है। पहली में अन्तरात्मा से अप्राप्त होने के कारण व्यवस्था आगन्तुक प्रतीत होती है। दूसरी में व्यवस्था की ओर उपेक्षा-सी प्रतीत होती है। पहली का ऐतिहासिक परिणाम अर्थहीन कट्टरता, दूसरी का व्यवस्थाहीन रूपान्तरण। एक अन्य दृष्टि इन दो के मध्य में मिलती है, और वह विशेष रूप से **महाभारत** के स्थलों में उदाहृत है। यह दृष्टि जाति-व्यवस्था की कट्टरता को स्वीकार नहीं करती थी बल्कि जाति को दुष्परीक्ष्य मानती थी। इसके लिए धर्म का प्रमाण शास्त्रों को नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें मतभेद मिलते हैं। धर्म में प्रमाण महापुरुषों के चरित्र और अपना अन्तर्ज्ञान, ये दो ही हो सकते हैं। **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'** धर्म का तत्त्व बुद्धि में निगूढ़ है।[७९] अपने अन्दर से ही उसे पहचाना जा सकता है। ऋषियों ने एकाग्र बुद्धि या प्रज्ञा से उसे साक्षात् कर उसकी विश्वव्यापी नियामकता का उपदेश किया। समाज की व्यवस्था में उसी का आभास होता है और अन्तर्यात्रा में उसी के सहारे चलना होता है। मानव-चेतना की यह स्वनियामकता ही धर्म का मूल रूप है, जिसका अपरिभाषित आन्तरज्ञान और परिभाषित बाह्य ज्ञान सदा ही अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे को खोजते हुए दो पक्ष बने रहते हैं।

भारतीय संस्कृति की मूल सामाजिक परम्परा आश्रमों, वर्णों और जातियों का ऐतिहासिक विस्तार नहीं है। वह मूल परम्परा निर्मल बुद्धि के द्वारा कर्म

करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने की थी। कर्मयोग की परम्परा ही भारतीय सामाजिक परम्परा की वास्तविक थाती है। उसी में नियम और स्वतन्त्रता, बन्धन और मुक्ति, कर्म और नैष्कर्म्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्वों का समाधान होता है। उसी में मनुष्य को अपने कर्तृत्व के लिए ऐसा मार्ग मिलता है जोकि उसे अपने आगन्तुक और अपर्यनुयोज्य ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति की परतन्त्रता से मुक्त कर सकता है। अतीत से जो उत्तराधिकार हमें मिला है वह एक सोचने की विधि है, न कि एक नियम-संहिता। **"श्रद्धामयोयम् पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"** यह सोचने की पद्धति या श्रद्धा बाहर से बताया हुआ कोई सूत्र नहीं है। वह एक शाश्वत संकेत है कि हमारे अन्दर ही विवेक-शक्ति है। वही परम्परा वर्णित अर्थों का मर्म सजीव रूप में हमारे लिए प्रकट कर सकती है। **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।"**

□□

१. "ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।"

—मार्कण्डेयपुराण

२. कुछ नवीन विद्वान भारतीय सामाजिक आदर्श को ही वैषम्यमूलक मानते हैं—द्र० ड्यूमां, होमो हायरार्किकस।

वस्तुतः सामाजिक औत्तराधर्य औपाधिक होता है, न कि आत्मिक। दूसरी ओर जो मनुष्य को परमार्थतः सामाजिक मानते हैं वे वैकासिक औत्तराधर्य स्वीकार करते हैं। सनातन मानव की समता और ऐतिहासिक मानव की विषमता, दोनों ही अपरिहार्य सत्य हैं। तु० मिसेज जोन राबिन्सन, 'इकोनोमिक फ़िलासफी'।

मूल्यगत और औत्तराधर्य पर द्र० हार्टमान, एथिक्स; मूल्यमीमांसा। श्रेष्ठ और हीन के विवेक के बिना मूल्य-बोध होता ही नहीं। इसी लिए जीवन-विधाओं में भी भेद मानना आवश्यक है। चारित्रिक भेद पर आधारित अधिकार-भेद एक कर्मव्यवस्था का अंग नहीं है।

३. द्र० कोण, हिस्टरी ऑफ़ द धर्मशास्त्र, जि० ३, अध्याय ३४

४. उदा० आपस्तम्ब, १. २. ५. ४.; ३. ६. १३; ७-९

५. मनु०, १. ६६, ८१-८७, ६. ३०१-०२

६. शान्तिपर्व

७. उदा० मार्कण्डेय, ४६ : मत्स्य; १४२-४४

८. कोण, पूर्वोद्धृत

९. राय चौधरी, 'पोलीटिकल हिस्टरी ऑफ़ एन्शेन्ट इंडिया' (१९५०) पृ० ३६

१०. कोण, पूर्व०

११. तु० ब्रौदेल, बैरेल्वफ़ द्वारा उद्धृत, यूनेस्को-प्रकाशित "कंटैम्पोरेरी ट्रेंड्स इन सोशल साइन्सेज", जि० २ में

१२. द्र० हेगेल, एन सिक्लोपेदी, पृ० ४०२ आगे

१३. ऋ० १.६४,१०

१४. ऋत की इस अवधारणा की तुलना पश्चिमी नेचरल ला से की गयी है जिसे अब असंगत माना जाता है, किन्तु वह प्रत्यक्षवादी आग्रह के कारण है।

१५. ऋ० १० । ५१

१६. धी पर द्र० ख़ोंडा

१७. तु० ऋ० १० ८५

१८. हेरोडोटस, द हिस्टरीज़ (पेंग्विन) पृ० ७७

१९. ऐतरेय ब्राह्मण, पंजिका ७।

२०. द्र० सुकठंकर, द मोर्निंग ऑफ़ द महाभारत।

२१. ऋ० १०. ११७. ६

२२. कलियुग का धर्म ही दान माना गया है।

२३. तै० सं० ६, ३. १०. ५

२४. तु० अथर्व० ११. ५

२५. कठ० १. २. १-२

२६. वही. १. १. २७

२७. वही, १. १. २३

२८. बृ० ५. २.

२९. छा० २. २३, तु० श्रमणिज़्म

३०. द्र० स्टडीज़

३१. ४. १५ पर भाष्य

३२. बृ० ४. ११-१३

३३. बही ४. १४

३४. द्र० व्यूलर, एस० बी० ई० जि० २, भाग २, भूमिका : केम्ब्रिज हिस्टरी, जि० १, पृ० २२७

३५. तु० तन्त्रवार्तिक, मीमांसा १.३.११ पर

३६. गौतम १, ११-४

३७. बोधायन १. १. १. एवं आगे

३८. वसिष्ठ, १. १. १३

३९. मनु० २-६

४०. मीमांसा० १. १. २
४१. शबरभाष्य (आनन्दाश्रम), जिल्द १, पृ १७
४२. श्लोकवार्तिक (वाराणसी, १९७८), पृ० ३७
४३. श्लोकवार्तिक, चोदना सूत्र पर
४४. मनु० २. १
४५. न्यायमुक्तावली (बनारस, १९५१), पृ० ५१०, और आगे
४६. तु० विधिविवेक (बनारस, १९७८), पृ० २७
४७. मनु० २. २-४
४८. वही १- ५
४९. याज्ञवल्क्य, १. ७
५०. गीताभाष्य, गीता २.५६ पर
५१. अष्टसाहस्त्रिका
५२. गीता ६. ३२
५३. वही, ३. ९
५४. वही, ३. २०
५५. वही, १६. २३-२४
५६. वही, १८-४५
५७. शाकुन्तल, षष्ठ अंक
५८. गीता, १८-३-२५
५९. वही, १८. ४८
६०. 'प्रतिपत्ति' का मीमांसकीय अर्थ ग्राह्य है
६१. शंकर, 'गीताभाष्य' गीता, १८. ६६ पर
६२. आर्यदेव, 'चतुश्शतक'
६३. वैशेषिकसूत्र
६४. प्रशस्तपादभाष्य (वाराणसी, १९६३), पृ० ६८१-८२
६५. वही, न्यायकन्दली, पृ० ६८७-८९
६६. द्र० श्रमणिज़्म
६७. चतुर्दश शिला-अभिलेख ७
६८. एथिक्स
६९. आत्मतत्त्वविवेक
७०. द्र० चार्ल्स एलियट, 'हिन्दूज़्म एंड बुद्धिज़्म'
७१. द्र० श्रमणिज़्म
७२. योगभाष्य, सूत्र २.३० पर

७३. चतुःशतक
७४. उदा० आचारंग
७५. द्र० स्टडीज़
७६. तु० रोजेन बर्ग, 'डी प्रोब्लेम डेर बुद्धिस्टिशेन फ़िलीज़ोफी'
७७. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
७८. श्रीमती राइज डेविड्स, 'बुद्धिस्ट साइकोलोजिकल एथिक्स'
७९. वनपर्व, युधिष्ठिर-नहुष-संवाद

चार

रसो वै सः
अनुभूति और अभिव्यक्ति

इस अनुभव से सभी परिचित होंगे कि बहुत बार ज्ञान का एक विषय विषयान्तर की सूचना देता है। यह सूचना उन दोनों विषयों के नियत सम्बन्ध के ज्ञान पर आधारित हो सकती है, अथवा उन विषयों के किसी प्रकार सम्बन्ध होने के कारण एक का अनुभव दूसरे की स्मृति का कारण बन सकता है। पहले प्रकार का ज्ञाप्य-ज्ञापक-सम्बन्ध प्रसिद्ध लिंग-लिंगि-सम्बन्ध है, दूसरे प्रकार की संस्कारमूलक सांकेतिकता, संस्कार के नियत इच्छामूलक होने पर प्रतीकात्मक कही जा सकती है। लिंग और प्रतीक, दोनों ही प्रकार के संकेतों की ज्ञापकता ज्ञानसापेक्ष होती है, किन्तु लिंग जिस ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वह वस्तुभूत स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान है, जबकि प्रतीक सम्बन्ध-कल्पना-रूपी अभिप्राय के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। परिणाम में भी लिंगीय सांकेतिकता तथ्य-ज्ञान की वाहक होती है, प्रतीकीय अभिप्राय-ज्ञान की।

वस्तुतः सांकेतिकता इन दो प्रकारों में संकुचित नहीं की जा सकती। अनेक बार विषय की ज्ञापकता निश्चित या स्पष्ट विषय को उपस्थित नहीं करती किन्तु मात्र सार्थकता का आभास देती है।[1] दृष्ट विषय के द्वारा किसी अदृष्ट और अपरिभाषित अर्थ का अस्फुट बोध किसी को भी अविदित नहीं है। इस प्रकार की अस्फुट सांकेतिकता के विषय में यह मानना अप्रमाणित होगा कि उसका मूल किसी अविश्लेषित संस्कार में या किसी अविश्लेषित वस्तु-सम्बन्ध में ही देखना चाहिए।[2] चेतना की अर्थ ग्रहण करने की एवं अपने को अभिव्यक्त करने की शक्ति उसमें संकेत-ग्रहण एवं संकेत-विधान की एक मौलिक क्षमता सूचित करती है। इस मौलिक शक्ति के बिना भाषात्मक प्रतीक-व्यवस्था की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है।[3] न इस मौलिक शक्ति को माने बिना जिज्ञासा का

अनन्त व्यापार सम्भव है क्योंकि ज्ञान और वाणी का मानवीय चेतना में एक अटूट सम्बन्ध दीख पड़ता है ।[४] इसी लिए चेतना की इस स्वरूपगत सांकेतिक शक्ति को भारतीय परम्परा में **वाक्** कहा गया है । 'सांकेतिक शक्ति' के स्थान पर अभिव्यंजक शक्ति कहना परम्परा के अधिक अनुकूल और कम भ्रामक होगा । वैदिक साहित्य में जिसे वाक् और मन का अथवा वाक्-प्राण का मिथुन कहा गया है उसे वैयाकरण शब्द और प्रत्यय का अनुवेध, बौद्धगण शब्द और विकल्प का अन्योन्यहेतुकता, एवं काश्मीरी शैव आचार्य प्रकाश और विमर्श का तादात्म्य बताते हैं ।[५] वाक् को चेतना की अर्थरूप में आत्म-प्रकाश की शक्ति कहा जा सकता है । सामान्य बोलचाल की भाषा के रूप में उसका एक छोर सर्वविदित है । किन्तु यह मन की अन्तरंग भाषा पर निर्भर है । अनुभव को विश्लेषित-संश्लेषित करने वाले मन की प्रत्ययात्मक रचनाएँ जिस प्रतिमान को खोजती हैं वह **पश्यन्ती वाक्** के रूप में बुद्धि के द्वारा साक्षात्कार का ही विषय है । वाक् की नित्य पर अव्यक्त स्वरूप-स्थिति ही उसकी **परावस्था** है ।[६] व्यष्टि और समष्टि के व्यूहों में वाक् ही सृष्टि की शक्ति और प्रक्रिया है । वाक् क्योंकि चेतना की अर्थ के रूप में अपने आप को प्रस्तुत करने की शक्ति है, समस्त सृष्टि-व्यापार अभिव्यक्ति मात्र ही ठहरता है ।[७] जो इस शक्ति को स्वरूप-शक्ति नहीं मानते हैं उन्हें इसे माया-शक्ति कहना पड़ता है। और उनकी दृष्टि एक विराट् ऐन्द्रजालिक भ्रान्ति सिद्ध होती है ।[८] वैदिक विश्वास के अनुसार परम व्योम में अव्यक्त रूप से विराजमान सनातन सत्य के प्रतिमान से दिव्य चेतना विश्व की सृष्टि करती है । ईश्वर ही वास्तविक कवि है और जगत् ही उसका काव्य है ।[९] इस दृष्टि से पार्थिव जगत् दिव्य जगत् की छाया सिद्ध होता है । सृष्टि के पदार्थों में एक स्वरूपगत सांकेतिकता स्वतः होती है ।[१०] वेदोत्तर काल में दिव्य चेतना को निष्क्रिय और निर्गुण मानने पर मानवीय चेतना में एक सहज भ्रमात्मक सृष्टि की शक्ति स्वीकार करनी पड़ी । नास्तिक सम्प्रदायों की इस बात को न भी माना जाय कि कर्मशक्ति स्वतः प्राकृतिक जगत् की सृष्टि करती है, तो भी यह सर्वसम्मत है कि जिस सामाजिक जगत् में मनुष्य सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष का अनुभव करता है, उसका मूल मनोवैज्ञानिक ही है । बाहरी पदार्थों को लोग अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार देखते हैं और उनकी कल्पनाएँ उनकी निजी वासनाओं का अनुसरण करती हैं । मनोमय होने के कारण पदार्थों में स्वरूपसिद्ध सांकेतिकता होती है ।

प्राकृतिक पदार्थ भी सर्वात्मना या कम से कम अपने विकल्पित रूप में मनोमय होते हैं । यह अनेक बौद्ध दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया ।[११] प्राकृतिक विषयों के रूप चित्तसापेक्ष हैं । इस तथ्य को प्रकारान्तर से नाना अन्य दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं ।[१२] सभी के अनुसार यथावत् अवधारित होने पर

विषय जगत् का रूप विपरिवर्तित हो जाता है और उसका मूल्यात्मक सत्य घनीभूत चेतना के अन्दर प्रत्यक्ष हो उठता है।

विषयी की एकता का परामर्श उन सभी कल्पनाओं का मूल है, जिनके द्वारा विषयों का स्वरूप-निर्धारण होता है। आत्म-बोध को पुरस्कृत करके ही विषय-बोध सम्भव होता है। विषय-कल्पना के सूत्र आत्म-कल्पना से ही निःसृत होते हैं।[१३] जहाँ विषयसत्ता एक आदर्श विश्व का संकेत करती है, उसका अनुभव आत्माभिव्यक्ति से व्याप्त मिलता है। अनुभव-मात्र में एक दोहरी सांकेतिकता निहित है, आदर्श सत्ता की, और आत्मचेतना की। आत्म-प्रतीति ही उसका मूल है और विषय-निर्धारण के माध्यम से वह अपने को ही उनके मूल आदर्श एवं प्रयोजन के रूप में खोजती है। इस धारणा का विस्तृत उत्पादन यहाँ अनावश्यक है पर कासिरेर के मत का उल्लेख अनुचित न होगा क्योंकि उन्होंने कल्पना की आत्ममूलकता को सांस्कृतिक संकेतों से सम्बद्ध किया है। "यदि हम उन कृत्रिम प्रतीकों को समझना चाहते हैं जिन्हें चेतना भाषा, कला और पौराणिक रूपक में रचती है, तो हमारे लिए उस सहज सांकेतिकता की ओर लौटना आवश्यक होगा जो कि चेतना की अखंड इकाई के रूप को उसके प्रत्येक क्षण और खंड में अभिव्यक्ति करती है। मध्यस्थ संकेतों की शक्ति और सामर्थ्य तब तक एक रहस्य बना रहेगा जब तक उनका मूल आत्मप्रतीति की उस स्वतन्त्र प्रक्रिया में न खोजा जायेगा जो कि चेतना का स्वरूप है। कोई इन्द्रिय-गोचर विशेष, जैसे कि कहा हुआ शब्द, किस प्रकार विशुद्ध बौद्धिक अर्थ का वाहक हो सकता है; यह हम तभी समझ सकते हैं जब कि हम यह मानें कि विशिष्ट संकेत की उत्पत्ति के पहले ही अर्थ-निर्देश का मूल व्यापार विद्यमान था, ताकि संकेत-विशेष के निर्माण में सांकेतिकता के निर्माण की आवश्यकता न हो कर सिर्फ़ उसके विशेष निर्धारण की आवश्यकता हो।"[१४] विश्व-निर्धारण के सामान्य प्रत्यय आत्मा के ही अपने निरूपण हैं। भाषा, कला आदि क्षेत्रों में इस आत्म-निरूपण के प्रभेद मिलते हैं। प्रत्येक संस्कृति मानो अपने को खोजती हुई चेतना का एक विशिष्ट हस्तलेख है। नाना संस्कृतियों के माध्यम से हम चेतना के अनन्त स्वरूप की एक सांकेतिक झाँकी पाते हैं।

संस्कृति का अन्तःसार ज्ञानरूप है और ज्ञान में विषय-निरूपण आत्म-निरूपण के बिना सम्भव नहीं है, ये धारणाएँ तो हेगेल में ही विकसित मिल जाती हैं। कासिरेर ने आत्म-निर्धारण को सहज सांकेतिकता के साथ सम्बद्ध करके और संस्कृति के स्वरूप को निरे बौद्धिक ज्ञान से विस्तृततर अर्थ में अनेकायामिक अनुभव के व्यापक रूप में ले कर सिद्धान्त का परिष्कार किया है। किन्तु वह अपरोक्ष आत्म-बोध के स्थान पर सांस्कृतिक आत्मबोध को ही आत्मा का विश्वसनीय परिचय मानते हैं।[१५] और सांस्कृतिक आत्म-बोध के विश्लेषण में

यद्यपि वह प्रत्यय-योजनाओं का गहरा विवेचन करते हैं, यह कभी स्पष्ट नहीं होता कि आत्मनिरूपण के लिए विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में नाना योजनाएँ क्यों आवश्यक हैं ? उदाहरण के लिए देश-काल की योजना अनेक रूपों में क्यों की जाती है ? कला, विज्ञान आदि के प्रभेद ही क्यों हैं ? और फिर सार्थकता के अनेक आयाम मानते हुए भी कासिरेर सत्य को विकल्पात्मक ज्ञान में ही स्वीकार करते हैं । उनका विश्लेषण संस्कृति का व्याकरण प्रस्तुत करना चाहता है किन्तु वस्तुतः उसकी परिभाषाएँ या **मेटाग्रामर** ही प्रस्तुत करता है । प्रागनुभाविक प्रत्यय-योजना के द्वारा निर्धारित विषय का रूप जिस चेतना के स्वरूप को व्यक्त करता है, उस चेतना को विकल्पबुद्धि ही कहना होगा ।[१६] चेतना का अपना विस्तार उससे ऊपर भी है, नीचे भी । निर्विकल्प पुरुष-चेतना या विज्ञाप्तिमात्रता का स्वरूप अनिवार्यतया विकल्पात्मक रूपों में ही व्यक्त होता है, यह धारणा भारतीय परम्परा में प्रायः स्वीकृत नहीं होती । कल्पना वासना के अनुसार सृष्टि करती है और इस प्रकार चेतना के एषणात्मक रूप से सम्बद्ध होती है, किन्तु सामान्यतया कल्पना और वासना को सत्य पर अधिकांश में पर्दा डालने वाला ही माना जाता है । यह मानते हुए कि सभी रूप आत्मा के रूप हैं, **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव,'** यह अद्वैत दर्शन में नहीं कहा जा सकता है कि इन सभी व्यक्त रूपों के माध्यम से आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप समझा जा सकता है ।[१७]

जो एकता विश्व की अनन्त अनेकता में व्यक्त है उसे निगमनात्मक या अनुगमनात्मक तर्क से नहीं पहचाना जा सकता किन्तु तो भी उस अनन्त विस्तार में चेतना के विभिन्न स्तरों के नाना संकेत मिलते हैं । यह सांकेतिकता अनुकृति अथवा नाम-विकल्प पर आश्रित अभिधान के द्वारा इस प्रसंग में व्यापारित नहीं होती । वह चेतना का रूप या शक्ति नहीं बताती, क्योंकि रूप और शक्ति सदा ही चेतना के बाहर प्रतीत होते हैं । किन्तु रूप चेतना के संकेत बनते हैं जबकि चेतना इस सन्दर्भ में मूल्यात्मना आभासित होती है । जहाँ से सांकेतिकता प्रारम्भ होती है, वहीं से मूल्य-चेतना भी । चेतना के आत्म-परामर्श की सात्त्विक उपाधि ही उसका व्यंजक संकेत होता है, और व्यंग्य होती है उसकी सविशेष एषणीयता । विश्व की आनन्दमूलता एवं प्रीतिमात्र की आत्मविषयता का यही तात्पर्य है ।

सहज सांकेतिकता को स्वीकार करते हुए उसके साथ चेतना को ही सार्थकता का मूल मानते हुए यह मानना होगा कि सांकेतिक व्यवस्थाओं का भेद पदार्थ-कल्पना-मात्र पर आधारित नहीं है । यह भेद सांकेतिक व्यापार के भेद पर आश्रित और सांकेतिक अर्थ के स्तर और प्रकार से सम्बद्ध है । भाषा में मूलतः वाचक व्यापार देखा जा सकता है, रूप में अनुकारक का । साहित्य एवं

कला में संकेत मूल्य-बोध का इस प्रकार से व्यंजक होता है कि अभिव्यंजनात्मक मूल्य भी रक्षित हो । यदि संस्कृति मूल्य-चेतना है तो कला उसकी व्यापकतम एवं समर्थतम भाषा ।[१८]

हेलेन केलर ने अपने भाषा सीखने के प्रथम अनुभव के वर्णन में बताया है कि किस प्रकार हाथ पर गिरते पानी के समकालिक उसके लिखे जाते नाम के स्पर्श को उन्होंने नाम-संकेत के रूप में समझा । स्पष्ट ही उनके मानस में सांकेतिकता समझाये गये बिना ही संकेत समझने की सहज योग्यता थी । किन्तु उन्होंने उस पहचान के क्षण में एक अपूर्व उल्लास का भी वर्णन किया है । ऐन्द्रिय संवेदन-विशेष उनके लिए अर्थ-वाचक बनते हुए एक अनुभूति का व्यंजक भी बना । अनुभूति और अभिव्यक्ति की मौलिक एकता एवं सहजता का यह एक अद्‌भुत दृष्टान्त है । आत्मपरामर्श ही मौलिक अनुभूति है, जिसमें अपनी अभिव्यक्ति अपने लिए होती है । उपाधि एवं संकेत के भेद से अनुभूति में तनुता एवं सघनता एवं अभिव्यक्ति-वैचित्र्य सम्पन्न होते हैं । सात्त्विक और अन्तर्मुख मनोवृत्ति में अपने अनुरूप प्रस्फुट विषय की उपलब्धि से जिस सघन आत्मानुभूति का सूत्रपात होता है, वही काव्य और कला की प्रेरणा बनती है ।

सुषुप्ति में आनन्द की अनुभूति के होने के कारण उसके कारण के लिए 'सात्त्विक', यह विशेषण यहाँ पर दिया गया है । प्रमाणादि लौकिक व्यवहार में ज्ञानोत्पादक सात्त्विकता के रहने पर भी चित्तवृत्ति के तटस्थ अथवा कर्मप्रवण होने के कारण अनुभूति नहीं होती। इस स्थिति के वारण के लिए 'अन्तर्मुख', इस विशेषण को लिया गया है । विषय को अपने से बाहर न देख कर अपने से लगा हुआ देखना ही अन्तर्मुखता है । अपने को बहिर्जगत् में विषय से लगा हुआ देखना दूसरी बात है । वह कर्म को प्रेरणा देता है । सात्त्विकता और अन्तर्मुखता की संयुक्त स्थिति ही द्रवावस्था है ।

'अपने अनुरूप' कहने से वे सब स्थितियाँ वारित होती हैं जिनमें मूल्य की दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का अनौचित्य रहता है । उदाहरण के लिए हास-परिहास, मनोविनोद, संवेदनात्मक विकृतियाँ, भावुक चिन्तन, मनोराज्य-विजृम्भण आदि सबमें रंजक विषय विवेक से आत्मकोटि का निर्धारित नहीं होता । ऐसे ही एक सन्दर्भ में प्रो० आई० ए० रिचर्ड्‌स ने अपने एक संस्मरण का उल्लेख किया है कि एक बार रोगी अवस्था में उन्हें एला ह्वीलर विल्कॉक्स की कविता ही अच्छी लगने लगी ।[१९]

ब्रह्मज्ञान आदि की निर्विशेष अनुभूति के वारण के लिए 'विषय', यह विशेषण उपात्त है । मूल्य विषयक परोक्ष ज्ञान के कारण के लिए 'प्रस्फुट' विशेषण है । ज्ञान, व्यवहार आदि स्थितियों में भी उत्पन्न दुर्बल और क्षणिक आत्मपरामर्श के वारण के लिए 'सघन' विशेषण दिया गया है ।

इस प्रकार की अनुभूति में स्व और विषय की भावात्मक एकता हो जाती है। इसके विपरीत, ज्ञान में 'स्व' तिरस्कृत रहता है, कर्म में स्व और विषय का सम्बन्ध सिद्ध न होकर साध्य बन जाता है। स्वरूपतः भाव ज्ञान की अस्वस्थता एवं कर्म की असिद्धता से मुक्त होता है। उसमें विषय मानो आत्मा की खोज को साकार करता है।

इस आन्तरिक तत्त्व से परिचित होने के कारण भारतीय काव्य कला की परम्परा में मनुष्य की ऐतिहासिक रूपावली की खोज नहीं है बल्कि उसके सनातन स्वरूप की खोज है। उसमें न क्लासिकी परम्परा की तरह सामाजिक मान्यताओं के निरूपण की प्रधानता है, न रूमानी परम्परा की तरह निजी अनुभूति के निरूपण की। उसमें प्राधान्य है आत्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का। उसकी मुख्य धारा में प्राकृतिक-सामाजिक यथार्थ के प्रति ऐतिहासिक और वैज्ञानिक कौतूहल के स्थान पर परम्परागत और परिचित रूपों के द्वारा पुरुषार्थों के अनुचिन्तन पर आग्रह है। प्राचीन कला आम्नायसिद्ध पर स्वानुभूत सत्य का निरूपण करती है। उसकी आम्नायमूलकता उसे निर्वैयक्तिक एवं अनामक बनाती है, उसकी स्वानुभूति उसे स्फुटता देती है। उसमें मौलिकता और पारम्परिकता के समन्वय की, एक चिरन्तन सत्य की अनुभूति के लिए नूतन अभिव्यक्ति की खोज रही है।

"इन्द्र यस्ते नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत्।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥"[२०]

भारतीय परम्परा की इस प्रवृत्ति की आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि से बहुत आलोचना हुई है, यह कहना अनावश्यक होगा। हेगेल ने भारतीय कला की प्रतीकात्मकता का यह कह कर उपहास किया है कि उसमें प्रतीक और अर्थ का सामरस्य न होने के कारण सौन्दर्य के स्थान पर भद्दापन ही उत्पन्न होता है, जैसे अनेक हाथों से शक्ति या अनेक सिरों से बुद्धि को संकेतित करने से। फ़र्गुसन ने भारतीय वास्तु में निर्माण की अकुशलता, अनुकृति और अवनति का इतिहास देखा। बुद्ध-प्रतिमा पर भी अनगढ़पन का आरोप किया गया जिसे सुन कर क्षोभ से कुमारस्वामी को भारतीय कला के अनुसन्धान की प्रेरणा हुई। यह सौभाग्य की बात है कि कुमारस्वामी के पूर्व और अपर तोयनिधि के अवगाहन करने वाले ज्ञानाद्रि से पारम्परिक कलात्मक मूल्यों का इतना संरक्षण तो हुआ कि उनका ऐतिहासिक विवरणों में तिरस्कार बन्द हो गया। किन्तु हेगेल आदि की प्रेरणा से जो इन मूल्यों के पुनरुज्जीवन का स्वप्न था वह साकार नहीं हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में आलोचना उतनी ही तीखी थी पर वह अनुत्तरित रही है। वेबर, कीथ, सुशीलकुमार दे आदि ने प्राचीन साहित्य के कालिदासोत्तर

काल को रूढ़ि प्रधानता, अलंकारिता, भावुकता, अतिरंजन, सामान्यीयता आदि दोषों से ग्रस्त बताया है ।

महाभारत में अन्तर्विरोध, पुनरुक्ति, संकलनात्मकता आदि से एककाव्यता ही न होने की उद्‌भावना की गयी है । **रामायण, महाभारत** के अतिरिक्त महाकाव्यों को दरबारी काव्य बताया गया है । नाटकों के लिए कहा गया है कि उनमें रूढ़ और सामान्य चरित्र भरे हैं । उनकी विषयवस्तु घिसी-पिटी होती है, उनकी शैली नाटकीयता से हीन और मात्र श्रव्यकाव्य के चमत्कार से पूर्ण । न उसमें शुद्ध ट्रैजेडी मिलती है और न शुद्ध कॉमेडी । रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने कहा है कि संस्कृत काव्य में गीति का प्रवाह नहीं मिलता । कीथ का कहना है कि संस्कृत काव्य में कालिदास तक में कहीं 'जीवन की आलोचना' नहीं मिलती । कोसाम्बी का कहना है कि संस्कृत साहित्य में कहीं भी कौतुकी साहस (एडवेंचर) की वृत्ति नहीं मिलती । इत्यादि, इत्यादि···

इन आरोपों के उत्तर में एक दिशा यह है कि प्राचीन साहित्य को प्राचीन विचार-धारा के ही परिप्रेक्ष्य में जाँचा जाये । प्रो० वार्डर ने संस्कृत साहित्य का एक नया इतिहास इसी दृष्टि से लिखा है ।[२१] उन्होंने रस, रीति, अलंकार आदि के लक्षण प्रस्तुत कर पुराने आलोचकों की सम्मतियाँ भी प्रस्तुत कर दी हैं, और कहा है कि उन्हीं को पुराने साहित्य की कसौटी मानना चाहिए । आपात-रमणीय होने पर भी यह मत अन्ततः रुचिकर नहीं हो सकता । पुराने साहित्य का भी सार्वभौम होने का दावा था । उसे बिना बहस के ही क्यों निरस्त कर दिया जाय ? संस्कृत साहित्य की प्राचीन इतिहास में समाधि बना देना उसके प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता । जहाँ तक पुरानी आलोचनात्मक धारणाओं और सिद्धान्तों का प्रश्न है, उन्हें भी विवाद के बाहर कैसे रखा जा सकता है ? जहाँ तक मात्र लक्ष्यमूलक या वर्णनात्मक लक्षण हैं, या शास्त्रीय परिभाषाएँ हैं, उनके परम्परागत रूप का ज्ञान अवश्य ही यह समझने में सहायक हो सकता है कि पुराने साहित्य का उसके तत्कालीन अध्येताओं की दृष्टि में क्या रूप था, किन्तु जहाँ तक कसौटी या मानदंड का प्रश्न है, उसे लागू करने में नये विवेक का प्रयोग आवश्यक है । उदाहरण के लिए रस के शास्त्रीय निरूपणों का अनुवाद मात्र इतिहास की पुस्तकों में ही स्थान पा सकता है ।

आलोचना के लिए उसकी युक्तता पर विचार आवश्यक है । और फिर रस आदि को काव्य में परखना, रस आदि के शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न नहीं हो जाता । उसके लिए काव्य की भी मार्मिक पहचान आवश्यक है । काव्य की रचना स्वतन्त्र प्रक्रिया है, उसके सौष्ठव को पकड़ आलोचना के लक्षणों से परिभाषित करना किसी यन्त्रनियत पद्धति से सम्भव नहीं है । प्राचीन शास्त्र तात्त्विक लक्षण प्रस्तुत करते हैं न कि तुलनात्मक आलोचना के गढ़े-गढ़ाये सूत्र,

याकि रचना के विधिसूत्र । **मेघदूत, गीतगोविन्द,** और बिहारी की **सतसई** तीनों में श्रृंगार रस की ध्वनि है । किन्तु इतने ज्ञान से उनके विषय में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं जाना जाता ।

सच तो यह है कि जहाँ स्वतन्त्र विवेक रचना का अयुतसिद्ध तत्त्व है, शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार आलोचना उसे किसी अन्य प्रसिद्ध कृति या कृति-समूह पर आधारित लक्षणों के अनुसार जाँचती है और यह प्रवृत्ति सदा न्याय नहीं कर पाती ।[२२] प्राचीन रचनाओं और प्राचीन सिद्धान्तों का, दोनों का ही स्वतन्त्र रूप से विमर्श आवश्यक है, तभी उनका मूल्य और परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट हो सकते हैं । यह सही है कि ऐतिहासिक सन्दर्भ रचना और आलोचना दोनों को घेरे रहता है किन्तु वह आधुनिक मानस को उतना ही घेरे है जितना प्राचीन को । ऐतिहासिकता की सीमा से मुक्त होने का एक ही उपाय है, वह है अपनी निष्ठाओं के विषय में यह जानना कि वे किस इतिहास से रचित हैं । प्राचीन साहित्य की प्राचीनता के अन्तर्गत तत्त्व उसकी प्रतीकात्मक सार्थकता के उपादान मात्र हैं, उसका साहित्यिक अर्थ नहीं है । न उनमें उसकी निजी व्यंजकता का रहस्य छिपा रहता है । किन्तु पर्याप्त न होते हुए भी उनमें उसकी ऐतिहासिकता का बोध आवश्यक बना रहता है ।

एक दृष्टि के अनुसार रस प्राचीन काव्य का एकदेशी तत्त्व है, अर्थात् प्राचीन काव्य के अन्तर्गत बहुत से तत्त्वों में रस एक तत्त्व है और एक प्रकार के काव्य में वह प्रधान है । इस मत की एक उपपत्ति यह है कि प्राचीन अलंकार-शास्त्रीय परम्परा में रस का सभी आचार्यों ने प्रधान रूप में उल्लेख नहीं किया है । ऐसा लगता है कि **नाट्यशास्त्र** में रस-निष्पत्ति सम्बन्धी भरत के सूत्र के आधार पर कश्मीर में आठवीं-नवीं शताब्दियों में रस-सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन हुआ । पहले जो सिद्धान्त नाट्य के सन्दर्भ में कल्पित था, वही ध्वनि-वाद के साथ समन्वित होकर एक व्यापक रूप से काव्यमात्र के लिए स्वीकृत हो गया ।

क्रमशः रीति, गुण, अलंकार आदि का विचार इसके ही सन्दर्भ में ठीक माना जाने लगा ।[२३] यही नहीं, चित्रकला एवं संगीत का भी सम्बन्ध रस के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया ।[२४] इस प्रकार आरम्भ में नाट्य-विषयक सिद्धान्त होते हुए भी कालक्रम से समस्त काव्य और कला का सिद्धान्त बन गया । इससे भी आगे बढ़ कर भक्ति को रस से अभिन्न प्रतिपादित किया गया ।[२५] किन्तु मध्यकालीन हिन्दी ग्रन्थों में रस का एकदेशी तत्त्व के रूप में बहुधा सतही विवरण प्रस्तुत हुआ । वर्तमान युग में अंग्रेज़ी साहित्यिक आलोचना की प्रबल धारा में धुल-पुँछ कर नयी सहृदयता को रस सुदूर युग की भावुक अवधारणा प्रतीत होती है । यह सही है कि कुछ विद्वानों ने उसकी शास्त्रीय

चर्चा को फिर से प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।[२६] किन्तु उसके अभी पुरानी पारिभाषिकता के दुर्ग से न निकलने के कारण रस को एक जीवन्त प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत किया जा सका है, यह कहना कठिन है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि अनुभूति मूलतः आत्मानुभूति होती है और वह स्वतः अपने को संकेतों में अभिव्यक्त करती है। इसका परिणाम यह होता है कि सांकेतिकता के नाना क्षेत्रों और विधाओं में जो अर्थ विदित होते हैं, उनमें आत्मानुरूप अर्थ और अनुभूति की सम्भावना निगूढ़ रहती है। विज्ञानात्मक संकेत-व्यवस्था में भी एक अनन्त सत्य और अखंड प्रयोजन के आदर्श प्रत्यय से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु कार्य-जगत् के खंड पदार्थों का अध्यवसाय-क्रम इस आदर्श को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अपनी ही प्रकृति का जन्मजात कवच उसे अनुभूति से दूर रखता है। ऐसे ही सामान्य भाषात्मक संकेत-व्यवस्था या तो व्यावहारिक जीवन की दासता से संकुचित हो जाती है या अभिव्यक्ति की अनियन्त्रित सम्भावनामात्र बनी रहती है। कला-काव्यात्मक संकेत-व्यवस्था में यह खूबी है कि वह अभिव्यक्ति रूप अपने विशेष गुण या मूल्य के साथ-साथ अनुभूति को व्यक्त करती है। यदि संस्कृति को आत्मा का व्यक्त ऐतिहासिक रूप कहा जाय तो कला और साहित्य संस्कृति का वह तत्त्व है जिसमें वह अपनी अव्यक्त शक्ति को अखंडतया प्रतिबिम्बित करती है और साथ में इस प्रतिबिम्बन के मूल्य को भी प्रतिबिम्बित करती है। किन्तु इस प्रतिबिम्ब में तात्त्विक बात संस्कृति के तथाकथित यथार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं है। तात्त्विक बात है—आत्मानुभूति का और संस्कृति की मूल अभिव्यक्ति-शैली का प्रतिबिम्ब। साहित्य और कला में ऐतिहासिकतया प्रदत्त सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब अनिवार्य होते हुए भी मुख्य नहीं होता। मुख्य होता है उस व्यवस्था की कारणभूत मूल शक्ति का प्रतिबिम्ब। संस्कृति के व्यक्त और अव्यक्त रूपों में वैसा ही भेद किया जा सकता है जैसा **नातुरा नातुराता** (विकृति) और **नातुरा नातुरान्स** (प्रकृति) में। कला का मुख्य सम्बन्ध सांस्कृतिक प्रकृति से है जो मानवीय प्रकृतिमात्र न होकर मानवीय आत्मबोध एवं आत्मप्रकाश का एक स्थायी पर विशिष्ट भाव होता है। व्यक्त संस्कृति का आलम्बन कर उसके रूपान्तरण के द्वारा कला मूल भाव को संकेतित करती है। क्योंकि संस्कृतियों और अभिव्यक्तियों में मूल्य-व्याप्ति के कारण सार्वभौमता का आदर्श निहित होता है, कला और साहित्य की मूल सार्थकता भी परम्परया किसी संस्कृति-विशेष तक सीमित नहीं रह सकती। कला और साहित्य की प्रतिबिम्बता के सिद्धान्त को उनकी नितान्त ऐतिहासिकता का सिद्धान्त न समझना चाहिए। उसे समझना चाहिए संस्कृति की आत्म-प्रतिबिम्बता और सनातनमूलता का सिद्धान्त। **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।' 'नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषाम्'**। साथ ही वह

अभिव्यक्ति की आत्ममूलता का भी सिद्धान्त है ।' 'नाम रूप दुई ईशउपाधी', **'नामरूपे व्याकरवाणि'** ।[२७] वैसे संस्कृति का प्रतिबिम्ब तो उसकी प्रत्येक विधा में देखा जा सकता है, चाहे विज्ञान हो, चाहे सामाजिक व्यवहार, चाहे भाषा हो, चाहे कला हो ।[२८] किन्तु जैसा अभी कहा गया है कला एवं साहित्य की यह विशेषता है कि उनमें संस्कृति के कार्यमात्र प्रतिबिम्बित नहीं होते अपितु उसकी प्रणाली और मूल भी । कला और साहित्य न भाषा की तरह मात्र एक ढाँचा या रिक्त-कोष्ठकीय संकेत-योजना हैं, न वे ज्ञान-विज्ञान के समान विषय-मात्र के निरूपक हैं। वे संस्कृति-गर्भित अनुभूति के व्यंजक हैं ।

इस विवेचना में स्वीकृत है कि कला के दो पक्ष होते हैं : एक सांकेतिकता का, दूसरा मूल्य-सम्बद्धता अथवा आत्मसम्बद्धता का ।[२९] संकेत के रूप में कला अभिव्यक्ति-समर्थ रचना या रूप होता है । उसका अर्थ-पक्ष मूल्य-बोध या आत्म-परामर्श से घनीभूत अनुभूति है । जिस अनुभव में आत्मोल्लेखरहित मात्र तटस्थ विषयोल्लेख रहता है, उसे अनुभव या अनुभूति न कह कर मात्र संवेदन या ज्ञान ही कहना चाहिए । ऐसे ही रचना या रूप कहलाने के लिए उसमें कम से कम अभिव्यंजकता की प्रतीति होनी चाहिए । सूर्यास्त के रंगों और कोयल के स्वरों का कोई अर्थ नहीं बताया जा सकता किन्तु उनके देखने-सुनने पर क्षण भर के लिए मन ठहर जाता है । मानो और किसी अर्थ के प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में हो । किसी भी निश्चित समयमूलक या सादृश्यमूलक ज्ञापकता से रहित स्वतः दृश्य या श्रव्य रूपों में भी व्यंजकता रहती है, किन्तु यह अपरिभाषित और अनिर्वचनीय अर्थ की होती है ।[३०] इस व्यंजकता का मूल सांस्थानिक अवयवों में अपनी संस्थानगत अखंडता की ओर सहज संकेत का रहना है । सांस्थानिक या योजनात्मक एकानेकता बुद्धि-धर्म है जिसका मूल है पौरुष साक्षी और वैषयिक संवेदनों के बीच बुद्धि की मध्यस्थता । जहाँ अंश से अंशी का सहज और अक्रमिकवत् बोध होता है और प्रत्येक अंश का बोध अंशी के बोध को उपचित करता है, वहाँ चेतना में छन्द और सघनता व्यक्त होती है । निर्विघ्न होने पर यह छन्दोमय सघनता ही चेतना के आत्म-परामर्श की अर्ध-पारदर्शक उपाधि बनती है । निर्विघ्नता के लिए प्रवाह की स्थिरता एवं बाह्य या आन्तरिक विक्षेपों का अभाव आवश्यक है ।[३१] चित्रदर्शन अथवा संगीत-श्रवण में जब तक दृश्य-श्रव्य आकार कल्पना-शक्ति से चेतनारूढ़ या मात्र आलम्बन नहीं बन जाते, तब तक निर्विघ्न भावना सम्भव नहीं होती ।

इस प्रकार यद्यपि कला में व्यंजकता एवं आत्म-परामर्श सार्वत्रिक है, तो भी उसमें पक्ष-भेद से व्याख्या-भेद अनायास पैदा होता है । कला को एक वैचित्र्य-मयी भाषा मान कर उसके भंगीवैचित्र्य की लक्षण-व्यवस्था या रूपावली को प्रस्तुत करने की चेष्टा, आलोचना की एक सहज दिशा है। रीति, गुण, अलंकार

आदि के, अथवा शिल्प में प्रमाण आदि के, या संगीत में लक्षणों के विवेचन इसी दिशा में उपलब्ध होते हैं। इस लक्षणवादी परम्परा में यह भ्रम पैदा हो जाता है कि इनके लक्ष्य नित्य पदार्थ हैं।[३२] भारतीय संस्कृति के अभ्यन्तर में विद्वत्-संस्कृति-मात्र में इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुत प्रचलित थी। यहाँ तक कि वैयाकरणों ने स्फोटाख्य नित्य शब्द और संगीतकारों ने नादाख्य नित्य शब्द की कल्पना की। मीमांसकों ने वर्णात्मक नित्य शब्द पहले ही मान रखा था। आलंकारिक लक्षणों के सहारे काव्य-रचना का प्रयास सुप्रचलित रहा है। अस्तु, साहित्य सामान्यतया किस अर्थ को बताता है, इस प्रश्न को जो मुख्य मानते थे, उनमें स्वाभाविक रूप से मतभेद थे। इतना तो स्वीकृत ही था कि काव्य का मुख्य अर्थ इतिवृत्तात्मक, शास्त्र-परिज्ञानात्मक, अथवा आदेशात्मक नहीं हो सकता। ये सब तत्त्व काव्य में रहते हुए भी उसके लिए पर्याप्त नहीं हैं। काव्य के लिए चाहिए अनुभूति की अभिव्यक्ति। अनुभूति न तटस्थ ज्ञान या स्मृति है, न मात्र भावोत्तेजना या सुख-दुःख का अनुभव। किन्तु भाव संस्कारित हृदय की अवस्था-विशेष में आत्म-प्रतीति की सघनता ही अनुभूति है। सामान्यतया रस शब्द से इस प्रकार की अनुभूति ही अभिप्रेत है।

नाट्य के सन्दर्भ में रस की कल्पना उसकी अनुभूति-रूपता को स्पष्ट करती है। नाट्य लोकानुकृति है, लोक-जीवन के अनुभवों में व्यासक्त पात्रों की मनोदशा के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार ही उसमें रस की प्रतीति है। इसमें चेतना की आत्म-विश्रान्ति और भाव-सत्य की साक्षिता, दोनों ही युगनद्ध रहते हैं। लोकानुभव और आत्मानुभूति के बीच का सेतु भाव है। उद्बुद्ध होने पर भाव अपने विषय और आश्रय दोनों की ही चेतना को प्राकृतिक या लौकिक अस्तित्व से समेट कर आत्मसात् करने लगता है। तटस्थ ज्ञान के बाह्य विषय अपने प्रकृत रूप में भाव से सम्बद्ध नहीं होते, न भाव के आलम्बनादि ही भाव की चित्तभूमि के बाहर रहते हैं। भाव मनोमय आकार है जो कि बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं करता। **'अतो मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी'** (विद्यारण्य, मधुसूदन सरस्वती के द्वारा उद्धृत)।[३३] **'बाह्यपिण्डस्थ नाशेऽपि तिष्ठत्येव' मनोमयः।"** **(भक्तिरसायन, १-२८)** भाव-विश्व स्वप्नवत् विज्ञानवाद को दृष्टान्वित करता है। **'नह्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्त्वतः।'**[३४]

अहंकार, वासना एवं इष्टानिष्टादि आकार जिन अन्तर्योजनाओं से जुड़े रहते हैं, उन्हें सर्व-सामान्य लोक की कार्य-कारण-शृंखला नहीं समझा जा सकता। प्रतीतिमय भाव-विश्व की संगति ही उसका सत्य है जो अपने साक्षात्कार के क्षण में चेतना के लिए दर्पण बन जाता है। परिचित व्यक्तित्व के दैहिक-सामाजिक तत्त्वों के द्वारा निर्मित होते हुए भी उसका आधार-केन्द्र चेतना ही होती है जिस पर अज्ञान ही बाह्य उपाधियों को आरोपित करता है और

चेतना को प्राकृतिक-सामाजिक विश्व में एक प्राकृतिक-सामाजिक वस्तु का रूप दे देता है। भाव-नेत्र के खुलने पर बाहरी देश-काल में जो घटित हो रहा है उसमें एक अकालिक और आन्तरिक मूल घटना की पहचान-सी मिलने लगती है। **'तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि।'** इसी कारण व्यवहार में बहिर्मुख होते हुए भी चेतना अनुभूति में अन्तर्मुख हो जाती है।

रसवाद के द्वारा लोकानुभव और काव्यानुभव के भेद के समर्थन को इस बात का समर्थन न समझना चाहिए कि रस का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है और वह मात्र कल्पना-विलास का आस्वादन है। भट्ट तौत की उक्ति है : **'नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्। विशुद्ध-भावना-ज्ञानतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥'** मूलतः भी कवि और ऋषि एकार्थक ही थे। सत्य के अनुभव और रसानुभूति को अलग-अलग नहीं किया जाना चाहिए। लोकानुकृति-रूप नाट्य के द्वारा अर्पित अनुभूति यदि लौकिक जीवन के भावगत सत्य को ग्रहण नहीं करती तो उसकी मूल्यवत्ता का एक आयाम जो कि उसकी पुरुषार्थकता है, वह नष्ट हो जायेगा।[३५] "कला जिस सत्य का अनुसन्धान करती है, वह सम्बन्धात्मक सत्य नहीं है, वह प्रतिविशिष्ट तथ्य का सत्य है।"[३६] वह तर्कगोचर न होकर भावगोचर है। अथवा यह कहना चाहिए कि वह संविद्गोचर भाव ही है। भाव ही वास्तविक प्रतिविशिष्ट सत्य है।

दूसरी ओर रस की अलौकिकता उसकी अभिव्यंजना से सम्बद्ध है। लौकिक व्यवहार कर्म-प्रधान होता है और भावावेग उसमें उपसर्जनीभूत रूप में स्थान पाते हैं। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि भाव परिस्थितिजन्य प्रतिक्रियाओं के संवेदनमात्र हैं। इसके विपरीत प्राचीन दार्शनिक परम्परा के अनुसार भाव का सम्बन्ध कल्पना से अधिक है, वस्तु प्रत्यक्ष से कम। बुद्ध की उक्ति **'काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।'** एक गम्भीर आध्यात्मिक सत्य की ओर संकेत करती है। रति, शोक आदि परिमित अहंकार से मानसिक स्तर पर उत्पन्न होते हैं। उनके कारण उपस्थित होने पर उस परिस्थिति में कर्मात्मक प्रतिक्रिया प्रधान हो जाती है। भाव की सघनता का अवसर ही नहीं उत्पन्न होता। काल्पनिक विभावादि से उद्बुद्ध भाव अनुसन्धान-काल से सघन होकर सुविशेष आत्म-प्रतीति की उपाधि बनता है। कल्पनामूलक भाव का सम्बन्धी होना रस को अलौकिक बनाता है। किन्तु इस कल्पना में लोक-सिद्ध मानवीय स्वभाव और स्थितियों का सार संगृहीत होने के कारण अभिव्यक्ति में अलौकिक होने पर भी भावोपाधिक रस लोक के सत्यांश से विच्छिन्न नहीं होता।[३७]

साहित्य आलोचना की दृष्टि से रस एक व्यंग्य अर्थ है जो कि भाव-सम्बद्ध

होते हुए भी भाव के साथ सर्वथा एकात्मक नहीं है, और जिसका पता विभाव आदि से चलता है। एक सीमा तक विभाव की कल्पना **ऑब्जेक्टिव कोरेलेटिव** से तुलनीय है। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से व्यंजना-व्यापार का विश्लेषण ही महत्त्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावादि का निरूपण महत्त्वपूर्ण नहीं है, न वह तत्कालीन मनोविज्ञान का प्रतिनिधि ही है। भावादि का वर्गीकरण वस्तुतः तत्कालीन साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष का शास्त्रीय चर्चा की सुविधा के लिए संक्षिप्त निदर्शन है। रस के स्वरूप का वर्णन साहित्यिक मूल्य, मनोवैज्ञानिक तत्त्व एवं आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में किया गया है। साहित्यिक मूल्य के रूप में एक विशिष्ट, आधुनिक आलोचक ने रस को कृति का सम्पूर्ण प्रभाव कहा है। उसे कृति का असंलक्ष्यक्रम अखंड व्यंग्य अर्थ कहा जा सकता है, जिसमें उसके सभी अंशों की सांकेतिकता उपचित होकर एक सम्पिंडित भाव सम्प्रेषित करती है। मनोवैज्ञानिक तत्त्व के रूप में रस को मतभेदपूर्वक उपचित भाव, अनुकृत भाव, व्यक्त एवं चर्चित भाव,[३८] कहा गया है। इस स्तर पर इसी प्रकार रस को सुखात्मक, सुख-दुःखात्मक, अथवा सुख-दुःख-मोहात्मक बताया गया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि वस्तुतः उद्‌बुद्ध या उत्पन्न न होकर केवल व्यंग्य होता हुआ भाव स्वयं मनोवैज्ञानिक यथार्थ न होकर तदाकारक सम्प्रेषणीय अर्थ ही ठहरता है। वास्तविक भाव तो स्वसंलग्न संवेदना या प्रतिक्रिया के रूप में प्रतीत होता है और उसमें साधारणीकरण या निर्वैयक्तिकता सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक स्तर पर रस को संवित्-स्वरूप या आनन्द-स्वरूप कहा गया है,[३९] जो न विषयानन्द है, न भावुकता का स्वाद, न ब्रह्मानन्द। वह स्वरूप-विश्रान्ति से अभिन्न है। विशेषालम्बन और भावोपाधिक होने के कारण उसे शुद्ध आत्मसंवित् से भिन्न कहा गया है। इस दृष्टि से **'रसो वै सः'** में रस को काव्य-रस से भिन्न ठहराया गया है। किन्तु यह भेद वैसा ही है जैसे कोई शुभ्र ज्योति को रंगीन काँच के माध्यम से देखे। विषय-रस तक में वही रस है किन्तु वृत्तिमालिन्य से वह प्रायः आच्छन्न रहता है। उपनिषद् में यह स्पष्ट कहा है कि **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति।'**[४०]

यह स्मरणीय है कि विश्वरूप में आभासमान चितिशक्ति या आत्मा स्वयं ही अपने को नाना रूपों में अवच्छिन्न करती है। ये रूप उसके आत्म-विमर्श के ही रूप हैं, न कि अनात्मक उपाधियाँ। **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**[४१] उस आत्मा का साध्य-साधक-भेद से लीला-रस और भक्ति-रस के रूप में प्रकाश रस को उसका स्वरूप ही सिद्ध करता है। विभाव आदि के अर्पण के द्वारा सभी काव्य नाट्यात्मक होते हैं, और नाट्य का सार ही लीला है।

सभी नवविध साहित्य-प्रसिद्ध रस भी ज्ञान-संस्कार से भुक्त सहृदय के लिए भक्ति के ही रूप सिद्ध होते हैं। रसानुभूति का आत्मानुभूति से भेद सविशेष

होने के कारण नहीं है, बल्कि इस कारण है कि साहित्य में आत्मानुभूति बुद्धि-वृत्ति से अवच्छिन्न चेतना के लिए एक व्यंजना-सम्प्रेष्य अर्थ है न कि वृत्ति-निरोध के उपरान्त स्वरूप-स्थिति। एक पौराणिक कथा है कि शिवलिंग के मूल का पता चलाने के लिए ब्रह्मा हंस का रूप धर ऊपर की ओर उड़े। मार्ग में कुछ गिरते फूलों को ही मूल का पर्याप्त ज्ञान समझ कर वे लौट पड़े। यह बुद्धि की शाश्वत विडंबना है कि वह सत्य के अनुसन्धान में प्रतिकृति अथवा संकेत से ही सन्तुष्ट हो जाती है। साहित्य एवं कला इस वृत्ति के अपवाद नहीं हैं।

परम्परा के अनुसार वेद शास्त्र हैं, न कि काव्य, क्योंकि उनके वाक्य आदेशात्मक माने जाते हैं और एक मत से सर्वथा कर्म-सन्दर्भ में ही उपयोगी हैं। वैदिक वाक्यों में तत्त्वोपदेश मानने वाले वेदान्ती भी उन्हें काव्य नहीं मानते क्योंकि सम्भवतः वे उनमें आध्यात्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति को चमत्कारी नहीं मानते। आधुनिक पाश्चात्य व्याख्याता वेद को सत्यनिष्ठ शास्त्र न मान कर कल्पनापरक मानते हैं। और अतएव उसमें काव्यत्व देखते हैं। इन दोनों ही दृष्टियों से भिन्न स्वयं वेद की दृष्टि है। वैदिक 'कवि' शब्द मनीषी और द्रष्टा का वाचक होकर[४२] देवताओं का, विशेष रूप से अग्नि का विशेषण बनता है। अग्नि के मानवीय प्रतिनिधि यज्ञ के पुरोहित ऋषि की कवि-प्रेरित वाक् में काव्यत्व का अभाव कैसे सम्भव है? ऋषि को द्रष्टा माना जाता था और ऋषित्व को देव-कृपा का वरदान।[४३] ऋषियों की दर्शनात्मक, सत्य-प्रतिष्ठ, छन्दोमय वाक् ही वेदमन्त्र है। उसमें वही दावा है जो विश्व के सब सत् कवि सदा करते रहे हैं—अनिवार्य छन्द और शब्दावली में अपूर्व सत्य के साक्षात्कार की सहज अभिव्यक्ति का। वास्तव में यदि सत्य को सूत्रणीय विधि या तर्कोपपाद्य सिद्धान्त माना जाय तो वह अनुभूति और अभिव्यक्ति के क्षेत्र से हटकर ज्ञान और अभिधान की बात हो जाती है। वेद में इस प्रकार का सत्य उत्तर-वैदिककालीन गद्य के सहारे खोजा जाता रहा है। किन्तु उसका आध्यात्मिक मूल जिस अनुभूति में है, उसे भी खोजना आवश्यक है। वैदिक मन्त्रों में आध्यात्मिक अनुभूति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। यही उनके ऋषि-दृष्ट होने की बात का अर्थ है। यदि वे विधि या तात्त्विक सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं, तो उनके शब्द बदले क्यों नहीं जा सकते? स्मृतियों में शब्द बदल कर विधि और तत्त्व सूचित किये गये हैं और उनकी प्रामाणिकता भी स्वीकृत है। उनकी वेदमूलकता पर आग्रह क्या सिर्फ़ उनके लिए प्रमाण और युक्ति ढूंढ़ने के झंझट से बचने का उपाय है? यदि अपौरुषेयता सिद्ध भी हो तो उससे क्या प्रामाणिकता सिद्ध होती है या अप्रामाणिकता? और फिर वेद-वाक्यों में लक्षण तो सब पौरुषेय वाक्यों के ही हैं। उनमें जो विशेषता लक्षित होती है,

वह तो उनकी अनेक-स्तरीय व्यंजकता है जो कि उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण कहा जा सकता है। कविता का कभी भी इतना समादर नहीं था, न उसके स्वरूप और प्रयोजन के सम्बन्ध में कभी भी इतनी उदात्त अवधारणा ही थी जितनी कि पूर्व वैदिक युग में। काव्य की मूलभूत शक्ति, साक्षात् ज्ञान और मनीषा को एकात्मक माना जाता था। छन्द में परिहित और निपुणता से अन्वित शब्द-योजना देव-प्रसाद का पात्र बनकर प्रेरणावाही मन्त्रों का रूप धरने में समर्थ मानी जाती थी।

मानव कवि दिव्य कवि का मर्त्य प्रतिनिधि था।[४४] साक्षात्कार, सर्जन शक्ति, रचना और छन्द ये वस्तुतः दिव्यचेतना की सम्पत्ति हैं। देवताओं को कवि, द्रष्टा, रूपनिर्माता माना जाता था। मनुष्य देव-शक्ति का अनुकरण ही कर सकता था, शब्द साम्राज्य में स्रष्टा का पद ग्रहण कर सकता है। किन्तु कवि जिसकी सृष्टि करता है, वह देवेषित होने के कारण प्रामाणिक अथवा सत्यसंहित होना चाहिए। कवि-वाणी की इस प्रामाणिकता को ही मीमांसकों ने कानूनी विधि की प्रामाणिकता देनी चाही।

वैदिक काव्य की दृष्टि में विश्व का देव-शक्ति के द्वारा एक सहज मूल्यान्वय है। समस्त विश्व मधुमय है[४५] जिसमें दिव्य व्यवस्था और शक्ति की अभिव्यक्ति है। वैदिक काव्य में सृष्टि के इसी विराट् आनन्द, सामंजस्य एवं ज्योतिर्मय शक्तियों की लीला का कीर्तन है। उदात्तता की ऐसी अभिव्यक्ति अथवा छन्द की ऐसी यान्त्रिकता अन्यत्र दुर्लभ है।

वैदिक कवि यज्ञ-वेदि के पार्श्व में बैठा हुआ देवोपासना में संलीन पुरोहित है। देवताओं के लिए आह्वान और स्तवन के रूप में उसके सूक्त रचे गये हैं। और उनमें सहज रूप से ही यज्ञ-विधान और उसके प्रतीक एक महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं। परम व्योम में प्रतिष्ठित ऋत की ही प्रतिकृति यज्ञ में उपलब्ध होती है। वेदि भुवन की नाभि है। वैदिक कवि की कल्पना भुवनव्यापी है और उसमें वह ऋत की योजना देखती है। देवता न जड़ वस्तु हैं, न सृष्ट सत्त्व। उनकी कल्पना अतिरंजित मानवीयता की कल्पना नहीं है, अपितु सृष्टि में अनुप्रविष्ट वरेण्य तेज की है जिसके विविध रूप प्रकृति और जीवन में प्रत्यक्ष होते हैं। देवताओं को उपासना-सघन चेतना में आभासित सारभूत मूल्य कहा जा सकता है। देवताओं के गुण-कर्म मूल्याधिष्ठातृ शक्तियों के विलास हैं। आधुनिक चिन्तन के मनुष्य-प्रधान होने से उसमें मूल्य भी मनुष्य के द्वारा साध्य, निष्क्रिय आदर्शों के रूप में कल्पित होते हैं। किन्तु वैदिक कल्पना में मूल्य दिव्य शक्तियों के रूप में अवधारित हैं, जिनकी उपासना में मनुष्य को अपना त्याग कर वरदान की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जो आदर्श स्वार्थ-त्याग के द्वारा ही स्वतःसिद्ध होते हैं,[४६] उन्हें मानवीय कर्तृत्व का विषय

मानना सचमुच ही आधुनिक चिन्तन की **टॉलेमेयिक** भ्रान्ति है ।

पुराकथात्मक सन्दर्भ में नियोजित होते हुए भी देवता किसी अवास्तविक पुराकल्पित विश्व के वासी नहीं हैं । बल्कि प्रकृति और जीवन की मूल्यात्मक अनुभूति के विषय एवं प्रतीक हैं । उदाहरण के लिए अग्नि के सूक्त उनकी ज्वालामय तेजस्विता का, उनके सुनहरे बालों और दाढ़ी का, उनके दाढ़ों से चबाने का वर्णन करने के साथ ही उनके ज्ञान और कवित्व का उल्लेख करते हैं ।[४७] अग्नि देवताओं में श्रेष्ठ कवि और गायक हैं, मानव कवियों और गायकों के आश्रयदाता हैं । वह पिता हैं, घर के स्वामी हैं, नेता और रक्षक हैं । अग्नि की महिमा समझने के लिए आधुनिक मनुष्व के लिए उपयोगी होगा···कि वह जाड़ों की साँझ की प्रतीक्षा करे, चूल्हा जलाये और जलते कोयलों को ताके । उसे समझ आ जाएगा कि देवता वही है जो उसके लगाव को तोड़ता हुआ भी उसकी एकान्तता नहीं तोड़ता ।[४८] मृत्यु के बाद भी अग्नि ही मनुष्य को धूम-पथ से पितृ-लोक ले जाते हैं । अग्नि के सूक्त न केवल घर और कुटुम्ब की अधिष्ठात्री शक्ति के लिए हैं, बल्कि प्रार्थना और कविता, ब्रह्म और धी की शक्ति के लिए हैं ।

शब्दमूलक सृष्टि का सिद्धान्त पुराना वैदिक सिद्धान्त है । वाक् और धी, शब्द और ज्ञान अलग-अलग नहीं हैं । न वे सर्जक क्रिया से अलग हैं । परम व्योम में शुभ्र सहस्राक्षरा वाक् है जो अव्यक्त से रूपों का तक्षण करती है ।[४९] जैसे अग्नि और बृहस्पति ब्रह्मात्मक या स्तुत्यात्मक मूल वाक् देवता हैं,[५०] ऐसे ही सरस्वती भी, क्योंकि उसकी मातृवत् पोषक धारा सृष्टि और उर्वरता का प्रतीक है ।[५१] वाक् ही विश्व की मूल शक्ति है ।[५२]

सत् और असत् का संघर्ष एवं सत् के प्रभुत्व से अनुशासित व्यवस्था की ओर वैदिक ऋषिओं ने बहुधा ध्यान दिया है । इन्द्र, वरुण और मित्र इस शासकीय सत्ता में क्षत्र के प्रतीक हैं । समस्त भुवन उनके नियोग का पालन करता है । इन्द्र न सिर्फ़ वीर्यवान् शासक हैं अपितु सेनानी और योद्धा हैं । उनके सूक्तों में युद्ध और संघर्ष, बल और विजय, वीरता और उल्लास की अभि-व्यक्ति मिलती है । मित्र और वरुण के सूक्तों में विश्वनियामक ऋत और विश्व-व्यापी साम्राज्य की गम्भीर और उदात्त महिमा व्यक्त होती है । यदि बिजली का कड़कना और गिरना इन्द्र की प्रहार-शक्ति के प्रतीक हैं, तो तारकांकित रात्रि-कालीन आकाश वरुण की नित्यसाक्षिता का प्रतीक है ।[५३] यदि अग्नि और इन्द्र ब्रह्म और क्षत्र के प्रतिनिधि हैं, तो मरुद्गण सामान्य जन या विश्व के प्रतिनिधि हैं । आँधी-तूफ़ान के देवता होकर वे योद्धाओं का एक गण हैं जो चमचमाते अस्त्रों से सन्नद्ध होकर इन्द्र का अनुसरण करते हैं । वैदिक कवियों को अन्तरिक्ष के मेघों ने और वर्षा ने उतना ही आकृष्ट किया[५४]

जितना कि आकाश में प्रतिदिन ज्योति के उदय ने। उषा की शोभा एक सुन्दर कन्या से उपमित की गयी है जो कि सवेरे जल्दी उठ कर सबको काम के लिए प्रेरित करती है।[५५] उसकी शोभा, दक्षता और सेवा सभी मर्त्य-भूमि की कन्याओं के लिए प्रतिमान की तरह हैं। प्रकृति और समाज की वैदिक अनुभूति ऋत की प्रतिच्छाया के रूप में है। इस केन्द्रीय दृष्टि से वैदिक कविता राजा और योद्धा, पुरोहित और कवि, कन्या और माता के आदर्श इन्द्र और मरुत्, अग्नि और सोम, उषा और आप के सूक्तों में चित्रित करती है। उसमें खेत और जंगल,[५६] दिन और रात का चक्र,[५७] वर्षा और मेघों की लीला, पालतू और जंगली पशुओं के विविध रूप खिल उठते हैं। कहीं सृष्टि के गम्भीर रहस्य पर या संवत्सर-चक्र के निगूढ़ अर्थ पर चिन्तन है।[५८] कहीं सृष्टि का प्रश्न लोक-सम्बन्धी है, कहीं वाक्-सम्बन्धी। कहीं प्रेत की विदाई की गम्भीरता है,[५९] कहीं सोम के अभिषव के अवसर पर परिहासपूर्ण उक्तियाँ हैं,[६०] कहीं खेती का गीत है, कहीं जुआरी का पछतावा है।[६१]

प्रकाश की चमचमाहट और रंगों की उज्ज्वलता, संग्राम की व्यग्रता और उसके प्रहारों की कड़कड़ाती ध्वनियाँ, संघर्ष की संकुलता और विजय का उल्लास, वेग की अबाधता, रथों की दौड़, नदियों का प्रवाह, तूफ़ान, अवकाश की अनन्तता, उपासना में आराध्य की निकटता और आत्म-निवेदन, शुभ संकल्प और शुभाशंसा, विश्व की मधुमयता और एक व्यापक और प्रत्यक्ष दिव्यता का आभास—इन सब का वैदिक काव्य में अपूर्व ओजस्वी रूप देखा जा सकता है। उसमें विराट् और उदात्त की अनुभूति, अभिव्यक्ति की ओजस्विता और गम्भीरता जिस मात्रा में मिलती है वह अन्यत्र तुलनीय नहीं लगती। उषा-सम्बन्धी सूक्तों के सौन्दर्य-बोध की चर्चा हुई है किन्तु उनमें ऐन्द्रियता या विषयासक्ति की गन्ध नहीं है। सौन्दर्य की वैदिक धारणा बौद्धिक और नैतिक है। बुद्धि की तक्षा के समान प्रमाणसंयुक्त, एवं शुभावह रचना में भौतिक या शाब्दिक सौन्दर्य माना जाता है। 'स्वकृति की सुकृतता ही रस है जिसकी उपलब्धि आनन्द देती है।'[६२] यह कृति समष्टि और व्यष्टि, दोनों ही स्तर पर होती है। इस प्रकार की रचना काव्य कही जाती थी। इसके विपरीत रूप एक अपारमार्थिकता थी। वह प्रतीक हो सकता था, या मायामात्र।[६३] वस्तुतः वैदिक कल्पना पार्थिव है ही नहीं। उसमें न फूलों का गन्धमय संसार है, न ज्योत्स्ना और छाया का मायिक विश्व। उसमें चर्चित हैं आकाश और आकाशीय ज्योतिर्गण, अन्तरिक्ष की मारुत लीला, पृथ्वी पर अग्नि की ऊर्ध्वशिख पावन ज्योति। वैदिक काव्य आलोक-दीप, पौरुष, वीर्य और उल्लास से प्रखर सौर काव्य है। **'उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।'**[६४]

वैदिक काल की आध्यात्मिक परम्परा परवर्ती काल में भाषा, शैली और

सांस्कृतिक सन्दर्भ के भेद से पुराण में, आगमों में और ज्ञानी कवियों की वाणी में देखी जा सकती है। **भागवत्, त्रिपुरा-रहस्य, योगवासिष्ठ, रामचरितमानस,** दक्षिण से उत्तर तक के सिद्धों और सन्तों की वाणी, इस परम्परा के उदाहरण हैं। सभी में कविता पावन सरस्वती की धारा है।

महाभारत और **रामायण** इतिहास और महाकाव्य दोनों ही माने जाते हैं। आधुनिक इतिहासकार उन्हें **एपिक** या वीरकाव्य कहते हैं और परवर्ती महाकाव्यों को **कोर्ट एपिक** या दरबारी काव्य। इस प्रकार का विभाजन किसी भी प्रकार संगत नहीं है। वस्तुतः महाभारत-रामायण का कालिदास और अश्वघोष से भेद उसी प्रकार का है जैसे होमर का वर्जिल से। प्राचीन वीर-काव्य मूलतः मौखिक और अलिखित परम्परा के काव्य हैं, जो जन-साधारण को सुनाये जाते थे। परवर्ती महाकाव्य लिखित परम्परा के थे और उनमें पिछली कृतियों के उल्लेख किसी न किसी रूप में व्यक्त या गर्भित रहते हैं। इस मूल कारण से कितने अन्य परिणाम उत्पन्न होते हैं, इसका विचार पश्चिमी साहित्य के इतिहासकारों ने पर्याप्त किया है।

अपने मूल रूप में **महाभारत** और **रामायण** दोनों में ही वीर रस का प्राधान्य होना सम्भाव्य लगता है। किन्तु उनके वर्तमान परिवर्तित रूप में **महाभारत** को शान्त रस-प्रधान और **रामायण** को करुण रस-प्रधान माना जाता है। दोनों ही में यह परिवर्तन युद्ध-वर्णन के उपरान्त जोड़े हुए भय भाग के कारण है, क्योंकि शान्तिपर्व से महाप्रस्थान तक का वर्णन और उत्तरकाण्ड मूल कथा के निर्वहण को बदल देते हैं।[६५]

यदि **महाभारत** में से अवान्तर कथाएँ निकाल दी जायें एवं आदि-पर्व और वन-पर्व को संक्षिप्त कर दिया जाये तथा गीता और शान्ति-पर्व को छोड़ दिया जाये तो **महाभारत** का रूप बहुत कुछ होमर के रौद्र और करुण रस से पूर्ण **इलियड** के समान हो जायेगा। सभा-पर्व के द्रौपदी धर्षण से कथा तब प्रारम्भ होकर दुर्योधन की मृत्यु में समाप्त होगी। किन्तु, तब भी उसमें **इलियड** का वातावरण न हो सकेगा, न **महाभारत** की ऐसी काट-छाँट के लिए कोई उपयुक्त प्रमाण ही है। किन्तु अधिकांश आधुनिक आलोचना मूल **महाभारत** को इसी प्रकार की वीर गाथा मानती है। उसके अनुसार सूत-परम्परा में युद्ध और प्रतिशोध की एक भयानक और करुण गाथा, पौराणिक, धर्म-शास्त्रीय, दार्शनिक सामग्री तथा कथाओं के जुड़ते जाने से क्रमशः रूपहीन और विश्व कोशात्मक बन गयी। यह कल्पना प्रमाणित तथ्यों से बहुत दूर चली जाती है। वीरगाथाएँ **महाभारत** की रचना के पूर्व भी रही होंगी और बाद में भी थीं। और इसी साहित्य में से उदाहरणार्थ सामग्री का सन्निवेश **महाभारत** में किया जाना आश्चर्यजनक नहीं है। **महाभारत** में परवर्ती प्रक्षेप और विस्तार उसकी अपनी

परम्परा में ही स्वीकृत है। तो भी **महाभारत** की कथा और पात्रों की योजना में एक मौलिक अन्विति है, जो प्रक्षेपों से नष्ट नहीं हुई है। महाभारत को गीता के बिना, या अर्जन को कृष्ण के बिना, या युधिष्ठिर को धर्मविषयक संशयों के अथवा भीष्म के समाधान के बिना कौन सोच सकता है? यदि कर्ण और भीम, दुर्योधन और दुःशासन, विदुर तक यूनानी वीर काव्य के स्तर के हो सकते हैं, तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्जुन और युधिष्ठिर, भीम और कृष्ण एक सर्वथा भिन्न और उदात्त नैतिक स्तर के चरित्र हैं। **महाभारत** की वीरता वैदिक परम्परा से प्राप्त धर्म और अध्यात्म की पृष्ठभूमि में ही सार्थक होती है। **रामायण** में यह नैतिक भाव अधिक सहज और स्पष्ट है।

भारतीय वीर-काव्यों में वीर-चरित्र क्षात्र-धर्म से नियन्त्रित हैं। एक स्तर पर वीर पुरुष बली योद्धा है, जो कि युद्ध-विद्या में निपुण, अपनी कुलीनता एवं प्रतिष्ठा के विषय में स्वाभिमानी, दृढ़-प्रतिज्ञ और दृढ़-भक्तिक, मित्र का मित्र और शत्रु का शत्रु, तथा मान-अपमान के क्षेत्र में असहिष्णु और प्रतिशोध-परायण है। युद्ध और आखेट, कामिनी-सेवा और द्यूत-सेवा, इन में वीर योद्धा अपना काल-यापन करता मिलता है। किन्तु वह धर्म और न्याय का आदेश मानता है। और उदार एवं दानी के रूप में प्रसिद्धि का अभिलाषी है। योद्धा होते हुए भी वह धर्म-युद्ध करता है। यदि उसकी कल्पना पंडित की नहीं है तो अशिक्षित की भी नहीं है। इन काव्यों के वीर चरित्र अच्छे, बुरे दोनों ही प्रकार के हैं। और इसी आधार पर उनके संघर्ष निरूपित हैं। उनके लिए प्रमाणभूत क्षात्र धर्म न असम्भव प्रतिशोध और हिंसा का धर्म है, न संकीर्ण कबीलाई व्यवस्था है। वह एक समृद्ध और विकसित सभ्यता का धर्म है जिसमें उदात्त आदर्श और कर्त्तव्य चारित्रिक असंयम और बौद्धिक संशय के साथ संघर्ष की स्थिति में दीखते हैं। धर्म-क्षेत्र में सत् और असत् का बाह्य और आन्तरिक संघर्ष ही वीर-काव्य का मुख्य विषय है।

वीरता की अनुभूति धर्म की अनुभूति से अलग नहीं की जा सकती। जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'सनातन इतिहास' कहा है, वह इन वीर-चरित्रों के जीवन-दपर्ण में धर्म का ही प्रतिबिम्ब है। सहस्राब्दियों से इन चरित्रों के नाम और कथाएँ जन-मानस में अमर हैं जब कि वास्तविक इतिहास के चरित्र शोध के विषयमात्र हैं। यह सोचना भी ठीक न होगा कि ये चरित्र गुण और अवगुण के मूर्त्त रूप होने के कारण 'सपाट' हैं और इनका इतिहास मात्र उपदेशात्मक रूप-कथा रहती है। उनकी प्रभावशीलता असन्दिग्ध है पर उनका चरित्र वस्तु-वृत्त न हो कर कल्पना है जिसके पात्र न सामान्य के प्रतिनिधि हैं, न व्यक्ति हैं। सामान्य चरित्र रूढ़ि के अन्दर ही प्रसिद्ध होते हैं, व्यक्ति यथार्थ में ही होते हैं। वीर काव्यों का विश्व न रूढ़ि-कल्पित है, न ऐतिहासिक यथार्थ। वह आदर्श-सार

विश्व है जिसमें धर्म का स्वरूप और उसका अन्तर्द्वन्द्व चित्रित होता है। धर्म-सम्मोह इसका आरम्भ बिन्दु, धर्मसंग्राम मध्य बिन्दु और मोहविगम इसका चरम बिन्दु है। युधिष्ठिर का सभापर्व में द्यूतात्मक सम्मोह ही वनवास और युद्ध का कारण बना जैसे कि दशरथ का सम्मोह **रामायण** में। मोह, प्रमाद, प्रवास, संग्राम और निवृत्ति के क्रम के बाद जो **रामायण** में निर्मोही और कर्त्तव्यनिष्ठ राम ने सीता को वनवास दिया उसे करुण विडम्बना माना जाय कि स्वतन्त्र कथा, यह विचारणीय है। मोह का स्वरूप ही है अविवेक, अनात्मीय अर्थ के लिए आत्मीय का त्याग। संग्राम से हुआ स्वराज्य-लाभ भी स्वराज्य-लाभ ही होना चाहिए। परवर्ती काल में **रामायण-महाभारत** में एक अन्तर्निहित उपदेशात्मकता देखी जाती रही है, जो काव्यत्व के विरुद्ध न होकर वीर-काव्य या इतिहास-काव्य की विशिष्टता है। नैतिक अनुभूति में कर्म-प्रेरणा का रहना उसका अनिवार्य तत्त्व है।

वैदिक प्रज्ञा दिव्य ऋत की अनुभूति को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देती है। वीर-काव्यों में देवासुर-संग्राम दैवी और आसुरी सम्पदाओं के प्रतिनिधियों का संघर्ष बन जाता है और लोक-चरित्र के माध्यम से नैतिकता की अनुभूति व्यक्त होती है। श्रमण आगमों में प्रारम्भ होने वाली भिक्षु-कविता में सत् और असत् का संघर्ष आधिदैविक और आधिभौतिक स्तरों से प्रायः हट कर आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यक्त होता है। इस आध्यात्मिकीकरण के साथ ही अभिव्यक्ति का रूप भी अनायास बदलता है और दिव्य या लौकिक घटनाओं की वर्णनात्मक शैली का स्थान निजी अनुभूति का साक्षात् विवरण लेने लगता है। और प्राचीनतर गीतियों के शेष न रहने के कारण यह वैराग्यपरक काव्य ही परवर्ती मुक्तक या गीतिकाव्य की परम्परा का अब प्राचीनतम रूप है।

आनन्द की वैदिक अनुभूति और वैराग्य-काव्य की दुःखानुभूति दो एकान्त हैं। जैसे आनन्द द्वन्द्वात्मक सुख न होकर सत्ता-मात्र का स्वरूपभूत आनन्द है, ऐसे ही यह दुःख आगन्तुक संवेदन न होकर अस्तित्व-मात्र की द्वन्द्वात्मकता की अनुभूति है। संवेदनात्मक दुःख परिस्थिति-विशेष से उत्पन्न होता है और उसमें अनिवार्यता नहीं होती। उससे गहरा परिणामजन्य दुःख होता है जो सुख और दुःख की द्वन्द्वात्मकता को प्रकट करता है। किन्तु उससे भी गहरी है संस्कार-दुःखता। अस्तित्व-मात्र सापेक्ष और विक्रियाशील है। इस सूक्ष्म अशान्ति का बोध प्रायः मोह की जड़ता से छिपा रहता है। किन्तु वही जब उपचित रूप में या अक्षिपात्रकल्प चेतना के समक्ष व्यक्त होती है तो उसमें दुःख का स्वरूप सभी पहचान लेते हैं। पर सब यह नहीं पहचान पाते कि दुःख का मूल बाह्य परिस्थिति न होकर आन्तरिक अज्ञान है। दुःख के वास्तविक स्वरूप या सत्य की अनुभूति ही मनुष्य को पृथग्जन के पद से हटा कर आर्य बनाती है और

चरम शान्ति का आभास देती है।

चारों ओर अनित्यता की अग्नि प्रज्वलित है। उस ज्वाला में भी प्राकृत जन अपने को बचाना भूल अभीष्ट विषयों को ढूंढ़ते रहते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है?

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
अन्ये जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥"

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सनि।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ।"[६६]

विषयज्वाला से आत्मा अन्धकार में पड़ी हुई है। (**'पदीपं न गवेसथ'** की तुलना **'अत्तानं न गवेसेय्याथ'** या **अत्तदीप** के साथ करने पर उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'अत्तदीप' में द्वीप की भी व्यंजना है। मृत्यु गाँव में रात की बाढ़ की तरह आकर सब-कुछ उठा ले जाती है। उसमें अपने लिए आत्मरूप द्वीप खोजना आवश्यक है।) 'पाण्डुपलाश', पीले पत्ते, की तरह मानव जीवन की भंगुरता है जिसके समक्ष मनुष्य को अज्ञानमूलक मृत्यु की शक्ति से संघर्ष करना है।[६७] बुद्ध और मार के संघर्ष में यह बात कुछ वैदिक परम्परा की शैली में मिलती है। **महाभारत** के प्रसिद्ध गृद्ध-गोमायुक-संवाद में वही लौकिक स्तर पर भावुकता और श्मशान-वैराग्य के रूप में मिलती है।

बौद्ध और जैन गाथाओं में विषय ही मृत्यु के पाश हैं। उनके प्रति तृष्णा ही परम शत्रु है और उसके प्रतीक के रूप में ऐन्द्रिय सौन्दर्य विशेषतया **स्त्रीरूप** को निर्दशित किया गया है। तृष्णा और दुःख, वैराग्य और शान्ति के मनोवैज्ञानिक चक्र ही दुःखानुभूति में व्यापारित रहते हैं। जीवन न व्यक्तित्व का विकास है, न व्यवस्था का अनुपालन। वह मानसिक तत्त्वों की कार्य-कारण-शृंखलामात्र है। विचारशील व्यक्ति मन के विषयों की ओर ध्यान न देकर मन के प्रवाह में नियमों का व्यापार ही देखता है। **कठोपनिषद्** में रथ का प्रसिद्ध रूपक है जिसमें आत्मा को रथी कहा गया है। भिक्खुनी वजिरा की प्रसिद्ध गाथा में मनुष्य की रथ से तुलना की गयी है जिसमें कोई रथी है ही नहीं। हमारे बिना ही रथ चल रहा है, हम सोचते हैं हम उस पर सवार हैं! अपनी स्थिर व्यक्तिगत सत्ता या आत्मा की कल्पना ही मूल भ्रान्ति है। उससे मुक्ति के लिए अनुभव की ओर एक निरन्तर विश्लेषणात्मक दृष्टि आवश्यक है। अनुभव के बाहर कोई अनुभविता नहीं है, और अनुभव एक दुःख-प्रवाह है जो अपने ही अन्तर्गत स्रोतों से भरता रहता है। प्रत्यवेक्षण, स्मृति और प्रबोधन के रूप में दुःख की इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भिक्षुगाथाओं में प्रायः मिलती है। वैदिक काव्य में बहती नदी उल्लासमयी जीवनी-शक्ति का प्रतीक है, यहाँ बीते जाते जीवन का। **'अच्चयन्ति अहोरत्ता जीवितं उपरुज्झति। आयु**

खीयति मच्चानं कुन्नदीनं व ओदकं ।'[६८] छान्दोग्य में वर्णित कथा के अनुसार विरोचन का जल-पात्र में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर उसके बिम्बभूत स्थूल देह में अभिमान दृढ़तर हुआ। किन्तु इन्द्र ने शरीर की नश्वरता में भय देखा और उसके मन में विरक्ति हुई। बौद्ध स्थविर वीतशोक को भी ऐसी ही प्रत्य-वेक्षा हुई—

के से मे ओलिखिस्संति कप्पको उपसंकमि।
ततो आदासमादाय सरीरं पच्चवेक्खिस्सं॥
तुच्छो कायो अदिसित्थ, अन्धकारो तमो ब्यगा।
सब्बे चोला समुच्छिन्ना, नत्थि यानि पुनब्भवो॥[६९]

छान्दोग्य में आत्मगवेषी की तुलना औरों से पूछ-पूछ कर गन्धार के मार्ग पर बढ़ने वाले यात्री से की गयी है। चक्खुपाल थेर अपनी नितान्त एकाकी यात्रा में मृत्यु को वरणीय बताते हैं। **'अन्धोअहं हतनेत्तोस्मि कन्तारद्धानपक्खन्दो। सयमानोऽपि गच्छिस्सं न सहायेन पाणेनाति॥'**[७०]

वर्षा में एकान्त कुटी समाहित चित्त का प्रतीक बन जाता है—
वस्सति देवों यथा सुगीतं, पञ्ञा मे कुटिका सुखा निवाता। चित्तं सुसमाहितं च मह्यं, अथ चे पत्थयसि पवस्स देवति॥'[७१] किन्तु बुद्ध की एक प्रसिद्ध गाथा में कुटी वासना संस्थान का प्रतीक है—**'गहकारक दिट्ठोअसि पुन गेहं न काहसि।'**[७२] घर छोड़ना ही मुक्ति का सर्वस्वीकृत संकेत था और इस अनागारता के सन्तोष, मुक्ति, आत्मारामता को बहुधा व्यक्त किया गया है।

एकान्त भिक्षु ध्यान की ओर मुड़ते थे और इस मुद्रा में प्रकृति-सौन्दर्य उन्हें शान्ति का दूत प्रतीत होता था।

'यदा बलाका सुचिपंडरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदानदी अजकरणी रमेति मं॥'[७३]

इस प्रकार की कविता जिसमें प्राकृतिक निश्चलता, शान्ति आदि ध्यानी मन के उद्दीपन बनते हैं, पीछे चीनी और जापानी ध्यान-सम्प्रदायों में विशेष रूप से विकसित हुई।[७४]

भिक्षु जीवन में गृह-त्याग, भिक्षाटन, कुटी-गुहा आदि में एकान्तवास, प्रत्यवेक्षा, ध्यान एवं विपश्यना आदि का अभ्यास नियत था। भिक्षु-काव्य में इसी एकान्त जीवन की मुक्ति और शान्ति की अभिव्यक्ति है जो कि उनके पूर्व जीवन की स्मृति की पृष्ठभूमि में और भी विशद हो जाती है। भर्तृहरि का **वैराग्य-शतक** इसी परम्परा में सुप्रसिद्ध है।

ईसा पूर्व की अन्तिम चार शताब्दियों में 'भारतीय संस्कृति' एक बहुत बड़े परिवर्तन से गुजरी। एक विशाल साम्राज्य का निर्माण और पतन, नाना विदेशी आक्रमण और विदेश से सैनिक, व्यापारिक एवं धार्मिक सम्बन्ध, इस

परिवर्तन का बाह्य पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उसके आन्तरिक पक्ष का एक प्रत्यक्ष प्रतीक है रूपकार की कला का अपूर्व विकास। अशोक से प्रस्तरोत्कीर्ण कला निरन्तर मिलती है।[७५] और ईसवी प्रथम शताब्दी तक उसमें बुद्ध की प्रतिमा का आविर्भाव हो चुका था। मुद्राओं में जानपदिक लक्षणों के स्थान पर शासक के चित्र का प्रचलन इसी युग से आरम्भ हुआ। उत्कीर्ण रूपों की इस परम्परा ने अभिव्यक्ति की मानो एक नयी प्रत्यक्ष-परायण, लक्षण-परिभाषित एवं प्रमाण-नियत शैली को जन्म दिया। शिष्ट भाषा स्वयं क्रमशः व्यवहार के स्थान पर लक्षणों से परिभाषित होने लगी और उसकी रूपावली निश्चित हो गयी। शक-सातवाहन युग के संस्कृत और प्राकृत के अभिलेखों की भाषा देखने से यह निश्चित रूप से प्रकट होता है। साहित्य के क्षेत्र में भी इस युग से एक निश्चित परिवर्तन दीखता है। धार्मिक जीवन से सम्बद्ध आर्ष साहित्य के स्थान पर मात्र लौकिक जीवन से सम्बद्ध मानवीय रचनाएँ अब प्रमुख होने लगती हैं।[७६] पिछली परम्परा मानो बहुत पुराने अनैतिहासिक युग की थी जिसे स्मृति के स्फटिक-पात्र में सुरक्षित रखना एक कर्तव्य था। किन्तु नयी रचनाओं की शैली और प्रकार दूसरे ही थे। इस लौकिक साहित्य में मानवीय जीवन और रूप की आसक्ति एक नवीन और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। लोकोत्तर देव-चरित्र का स्थान राजा और आमात्य, श्रेष्ठी और नागरिक ले लेते हैं। धर्म और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ अर्थ और काम के समक्ष गौण से हो जाते हैं। मानवीय भोग और समृद्धि, सौन्दर्य और प्रेम, इनका निरूपण प्रधान हो जाता है और इस निरूपण में मार्मिकता, निपुणता और विदग्धता का परिचय देने में कवियों और साहित्यकारों में होड़ रहती है। ऐतिहासिक और वैराग्यपरक पुराने काव्य में स्वभावोक्ति प्रधान थी। उसमें प्रसाद गुण की पारदर्शिता और अकृत्रिमता सहज रूप से व्याप्त हैं। उसकी तुलना में नये लौकिक साहित्य में अभिव्यक्ति की ओर विशेष रूप से ध्यान दिये जाने के कारण और उसके व्युत्पत्ति-गर्भित होने के कारण उसमें बनावट नहीं तो रीति और रचना की आभिप्रायिक विशिष्टता अवश्य मिलती है। पारदर्शिता उसमें भी है किन्तु रंगीन आभा वाले काँच की तरह है। यह विदग्ध अभिव्यक्ति उद्दिष्ट है सौन्दर्यानुभूति की ओर, रूपों के आविष्कार और मूर्त्त प्रतिबिम्बन की ओर। यह रूप की खोज समस्त अनुभव-सागर का मन्थन करती है। प्रकृति के दृश्य रूप, स्त्रियों के रूप, मानवीकृत देवताओं के रूप, शब्दों और छन्दों के रूप, सभी इस मन्थन में खिच आते हैं। कवि मानो शब्दकार न होकर रूपकार हो। उन्हें शिल्पी कहना शायद किसी भी और युग के कवियों के लिए उतना सार्थक न होगा जितना इस युग के कवियों के लिए। उनकी प्रतिभा शब्दों में मूर्ति गढ़ती है और शब्द-चित्र भौतिक प्रतिमाओं से अधक स्फुट और उज्ज्वल बनने की होड़ करते हैं। कवित्व-शक्ति का मूल

वासना-युक्त चित्त के समाधि गुण में माना जाता था। भावना की शक्ति परोक्ष को प्रत्यक्ष बना देती है, और कवि-प्रतिभा की विशेषता कही जाती है। इस प्रत्यक्षीकरण के साथ उक्ति-वैदग्ध्य की माँग उस नागरिक वर्ग और राज-दरबार की ओर से विशेष रूप से थी, जो इस साहित्य का आश्रयदाता था और समृद्धि, कला-कौशल, पांडित्य एवं विलासिता से स्फीत और परिष्कृत था। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र, कथा-साहित्य और नाट्य-साहित्य, इस राजकीय और नागरिक जीवन की कुछ झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। नयी प्रवृत्ति का अर्थ यह नहीं है कि पुरानी प्रवृत्तियाँ उन्मूलित हो गयीं। वस्तुतः रूप के अन्तर्द्वन्द्व का परिचय चिरन्तन था। रूप को स्वतन्त्र सत्ता और अव्यक्त का संकेत दोनों ही माना जा सकता है। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते'** का अन्तर्निहित तत्त्व त्रिकायवाद, अबतारवाद, मूर्तिपूजा आदि में, अविच्छिन्न रूप से मिलता है। दूसरी ओर रूप की व्यामोहकता का वैराग्य-परम्परा में प्रचुर प्रतिपादन था। परिणामतः रूप की व्यंजक ऐन्द्रियता और व्यंग्य अतीन्द्रियता में सामरस्य हो, यही इस युग की कला का आदर्श था। सारनाथ के बुद्ध एवं अजंता के पद्म-पाणि में, अश्वघोष एवं कालिदास में, यह समन्वय उत्कृष्ट रूप में दीखता है। दूसरी ओर, ऐन्द्रियता का प्राधान्य अनेकत्र मिलता है और वह नवीं शती से विशेष रूप से बढ़ता लगता है। यहाँ तक कि मध्यकाल में साहित्य द्विधाविभक्त हो गया। भाव प्रधान आध्यात्मिक परम्परा की कला तो लुप्त-सी हो गयी।

श्रीअरविन्द का कहना है कि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास में भारतीय संस्कृति की समस्त साधना संगृहीत है।[७७] कम से कम इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास को लौकिक काव्य का आदर्श प्रतिनिधि माना जाता था और इसी लिए सामान्यतः बाद में उन्हें **कविकुलगुरु** कहा गया। यदि कवि का ऋषित्व उसकी दर्शन और वर्णन शक्ति पर निर्भर करता है तो कालिदास के ऋषित्व में कोई सन्देह नहीं हो सकता। वाक् और अर्थ का सामरस्य ही उनका उपास्य था। और वाग्देवता के प्रसाद से रूप को प्रत्यक्ष उपस्थित करने की उनकी अद्भुत शक्ति सभी को चमत्कृत करती है। उनके शब्द मानो आँखों में सिद्धांजन लगा देते हैं।[७८] किन्तु उनके काव्य में रूप की महिमा विषयासक्ति का विज्ञापन नहीं है। वह बाह्य रूप और आन्तरिक गुण में मौलिक संगति मानते थे,[७९] जोकि सौन्दर्य को आन्तरिक संकेत बना देता है। गुप्तकालीन मूर्ति, वास्तु और चित्र-कला में इसी गुण की ओर अनेक आलोचकों ने संकेत किया है। रस-ध्वनि के सिद्धान्त का विकास जिस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि में हुआ, उसका अनु-सरण कुछ विद्वानों ने कालिदास की रचनाओं में प्रतिपादित किया है।[८०] इस सिद्धान्त के अनुसार सभी रूपों में शैव चेतना का प्रकाश होता है और उसके विमर्श या घनीभूत प्रत्यक्ष से मन में एक अन्तःस्पन्द उदित होता है जो उनके

अर्थ की पहचान एवं रस के सारभूत चमत्कार से अभिन्न है। सृष्टि के रूपों को कालिदास ने स्पष्ट ही प्रत्यक्ष शैवी तनु कहा है।[८१] रमणीयता को देखने-सुनने से जो भाव और आकुलता मन में उद्बुद्ध होती है वह मानो किसी की याद दिलाती है।[८२] यह आन्तरिक भाव का उदय ही बाह्य विषय को रूपान्तरित कर उसके प्रत्यक्ष को सघन अनुभूति बना देता है। इस अनुभूति की मध्यवर्ती भाव-स्थिर प्रीति मात्र भोगेच्छा नहीं है, न यह भोगवासना का धर्म की मात्र बाहरी मर्यादाओं से नियन्त्रण का सन्दर्भ है, यद्यपि वह भी अनिवार्य है।

आन्तरिक प्रीति के लिए विषयासक्ति-रूप अविवेक से मुक्त होने की आवश्यकता है। उसके लिए अपने को तपा कर काममूलक प्रसाद का प्रक्षालन आवश्यक है।[८३] विरह और तपस्या के मार्ग से ही प्रिय-मिलन सम्भव है, पर यह मात्र दुःख और सुख का चक्रवत् द्वन्द्व नहीं है जोकि इस लोक का नित्य नियम है।[८४] आदर्श मिलन इस लोक में सिद्ध ही नहीं होता। वह सिद्ध-लोक का आक्षेप करता है, मरीचि का आश्रम हो, चाहे अत्त का हो जहाँ आलोक का नित्य साम्राज्य है। इसी लिए सुख-दुःखात्मक भावों में रस की अनुभूति चिदावरण के भंग के बिना नहीं होती।

विषयासक्ति व्यक्तिगत जीवन और प्रेम में ही दुःख का कारण नहीं है, वह राष्ट्रीय जीवन में भी पतन का कारण है, यह **रघुवंश** में ध्वनित होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने **रघुवंश** की जो व्याख्या की है और श्री अरविन्द ने **कुमारसम्भव** की जो व्याख्या की है, उन्हें संयुक्त रूप में देखने से यह स्पष्ट होता है कि जिस आशा में **रघुवंश** की समाप्ति होती है, उसके सफल होने की यात्रा ही **कुमारसम्भव** में वर्णित है। कालिदास का शायद यही आशय है कि तपस्या के द्वारा विशुद्ध हुए बिना शक्ति वस्तुतः आत्मशक्ति या न्यायिक राजशक्ति नहीं बन सकती, न वह राष्ट्र के या दिव्य शक्तियों के नेता को जन्म दे सकती है। कौटिल्योत्तर भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक आदर्श और राजनीतिक विफलता, दोनों ही इसमें संकेतित हैं। राष्ट्रीय सफलता शिव और शक्ति के मिलन के बिना सम्भव नहीं है। आचार और व्यवहार में इसका अर्थ होता है प्रवृत्ति और निवृत्ति का कर्मयोग के रूप में समन्वय। अनुभूति के क्षेत्र में इसका अर्थ होता है विषयों का आत्मालोक में परावर्तन जो उनके रूप के असंश्लिष्ट दर्शन को सम्भव बनाता है।[८५]

प्रवृत्ति-जीवन का कर्म और अनुभूति के आयामों में आत्मज्ञान के द्वारा कर्मयोग और कला में रूपान्तरण ही संस्कृति की मूल प्रक्रिया है। किन्तु पुरुष और प्रकृति में यदि एक मौलिक विभाजन स्वीकार कर लिया जाय तो यह प्रक्रिया सम्भव ही नहीं रहती। पौरुष ज्ञान से सम्बन्ध हुए बिना प्रकृति और विकृति का चक्र ही निरन्तर चलता रहेगा। उसमें संस्कृति के उदय की सम्भावना

ही न रहेगी। दूसरी ओर प्रकृति-गर्भित शक्ति से सम्बन्ध के बिना पुरुष का ऐश्वर्य और पुरुषार्थ की सिद्धि सम्भव न होगी। इस विभाजन की स्थिति में अध्यात्मविद्या की पंगुता और भौतिक सभ्यता का अन्धापन बढ़ता जायेगा। इस प्रकार की स्थिति का वर्णन पुराणों में आसुरी विजय के रूप में किया जाता है। ऐसा ही कालिदास ने किया है। किन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की है :

> **प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः**
> **सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्**
> **ममापि च क्षपयन्तु नीललोहितः।**
> **पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥**[८६]

१. एक मत के अनुसार कला इस प्रकार की सार्थकता से परिभाषित है, उसमें अर्थ का आभास होता है किन्तु वह क्या है यह पता नहीं चलता।

२. 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान्' इत्यादि में अबोधपूर्वक स्मृति की कल्पना करते हुए दुष्यन्त ने ऐसा ही मन्तव्य व्यक्त किया है किन्तु अभिनव गुप्त का कहना है कि यह स्मृति 'तार्किक प्रसिद्ध' नहीं है— ना० शा०, जि० १, पृ० ६५६

३. द्र० मेरा लेख "लाइफ़ एंड डेथ आफ़ लांग्वेजेज"—डायोजिनीज १६६५

४. प्रत्यक्ष की प्रथमावस्था को प्रायः शब्द से स्वतंत्र माना जाता है किन्तु प्रत्यक्ष विषयों की पहचान भी बिना स्मृति और शब्दों के नहीं होती।

५. द्र० वाक्यपदीय, न्यायविन्दु विमर्शनी आदि।

६. वाक् के चार रूपों की प्राचीनतम चर्चा ऋ० के अस्यवामीय सूत्र में है किन्तु उसकी व्याख्या पर बहुत मतभेद है।

७. तु० अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्तनेअर्थमावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥" (वाक्यपदीय)

८. इस मत की भी प्राचीनतम अभिव्यक्ति ऋ० में मिलती है—द्र० ऋ० ६-४७-१८

६. ऋ० १-७२-१, २-५-३; वा० स० ४०६

१०. पश्चिमी अफलातूनी परम्परा इसी प्रकार की है। किन्तु उस परम्परा में अतीन्द्रिय तत्त्वों को तर्क बुद्धि का लक्ष्य माना जाता है।

११. द्र० मेरी अपोहसिद्ध एवं न्यायविन्दु

१२. द्र० योगवासिष्ठ, त्रिपुरा रहस्य

१३. तु० चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्यप्रतीयमानश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते।" शंकर, ईशादि पृ० ३३,
तु० "जीवं कल्पयते पूर्वं न तो भावान् पृथग्विधान" (गौडपाद, मा० का० १.१३
द्र० मेरी न्यायविन्दु भूमिका।

१४. द फिलासफ़ी ऑफ़ सिम्बॉलिक फ़ार्म्स जि० १, पृ० १०५-६

१५. तु० शंकर. पूर्वोद्धृत, चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कलाः लक्ष्यन्ते। अत एव भ्रान्ताः केचित्।

१६. तु० "य आत्मा सर्वगो राम नित्योदित महावपुः ।
यन्मनान्मननीशक्ति धत्ते तन्मन उच्यते ।।" (पञ्चदशी, १३.२०)

१७. यद्यपि सभी वृत्तियों में चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, उनमें उपाधिकृत तारतम्य देखा जा सकता है। शान्त वृत्तियों में भिन्न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होता है। अमिश्र ब्रह्म के लिए उपाधि-परीहार आवश्यक है। —द्र० 'पञ्चदशी', विषयानन्द प्रकरण

१८. तु० शतपथ जि० १, पृष्ठ ४८ जहाँ वाक् को सर्वव्यापक कहा गया है। वहीं पृ० ३४७ में वाक् को द्युलोक से सोम का अपहरण करने वाली सुपर्णी कहा गया है। यह स्मरणीय है कि सोम ही मुख्य रस अथवा मूल आनन्द है।

१९. रिचर्ड्स, 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म'

२०. ऋ० ८-६५-५

२१. हिस्टरी ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, ३ जि०

२२. तु० भवभूति की उक्ति—उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा"

२३. मम्मट आदि आचार्यों की यही स्थिति है।

२४. द्र० के० सी० पाण्डेय, कम्पैरेटिव एक्थेटिक्स।

२५. उदा० मधुसूदन सरस्वती, 'भक्तिरसायन'; रूपगोस्वामी, 'भक्तिरसामृतसिन्धु' भगवदाकारक धारावाहिक मनोवृत्ति को भक्ति कहा गया है। किन्तु यह स्वीकृत है कि चित्त के द्रावक जड़ विषयों में भी चिदानन्द का किंचित् आभास होता है। इस लिए सभी रस भक्ति के सजातीय बन जाते हैं।

२६. उदा० द्रष्टव्य न्योली, 'द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एकॉर्डिंग टु अभिनवगुप्त' (रोम १९५६); हिरियन्ना, 'आर्ट एक्सपीरिएन्स', विष्णुपद भट्टाचार्य, 'साहित्य मीमांसा' (विश्वभारती), नगीनदास पारिख, 'अभिनव का रस-विवेचन'; के० सी० पाण्डेय, 'कम्पैरेटिव एस्थेटिक्स'; हिन्दी में डा० नगेन्द्र का 'रस-सिद्धांत' बहुपठित रहा है।

२७. तु० शंकर, 'ईशादि०', पृ० ६५४ एवं आगे।

२८. इतिहासकार बर्कहार्ट ने इतालवी पुनर्जागरण पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में समस्त समाज व्यापी सांस्कृतिक अन्विति का विवरण प्रस्तुत किया है। वैज्ञानिक व्हाइटहेड ने भी वैचारिक रूपों के युगव्यापी सामान्य रूप की कल्पना की है।

२९. तु० छा० १-१-१-८ पुरुष का रस वाक् है। वाक और प्राण एक मिथुन हैं। उन्हीं का कार्य ऋक् पर अध्यारूढ़ गेय साम है। यह स्मरणीय है कि द्रष्टारूप ऋषियों के ऋषित्व का प्राण के साथ ऐश्वर्य अन्यत्र प्रतिपादित है।

३०. 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।" इसमें उल्लिखित पर्यौत्सुक्य एक अनिरुक्त भाव को सूचित करता है जिसे रोमांटिस्ट आलोचक कला का मुख्य अर्थ बताते हैं।

३१. अभिनव ने सात विक्षेपों में निजी जीवन या व्यावहारिक जीवन की व्याकुलताएँ भी गिनायी हैं।—द्र० ना० शा०, पृ० ६५८-६०

३२. बौद्ध दृष्टि से सामान्य के व्यावृत्तिरूप होने से लक्ष्य स्पष्ट ही लक्षण-परतंत्र सिद्ध होते हैं। सामान्य को नित्य पदार्थ मानने पर भी यह स्वीकार करना होगा कि भावात्मक शब्द सदा जातिवाची न होकर सापेक्ष अर्थों को भी सूचित करते हैं।

३३. विद्यारण्य में रूप है—"मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्यामनोमयी।

३४. 'पंचदशी', यह कहा जा सकता है कि बाह्य आकार की स्मृति ही मनोगत आकार होती

है, किन्तु वस्तुतः बाह्य आकार तटस्थ स्मृति का ही कारण होता है, भाव के लिए चित्त की युवावस्था में आनन्द, अथवा आत्मीयता की अभिव्यक्ति के साथ विषयाकार का सम्बन्ध आवश्यक है। इसी लिए वही बाह्य आकार भावात्मक बनने पर अलग-अलग हो जाता है।

३५. यद्यपि कला का अ-कला से विभेद रचना-सौष्ठव या अभिव्यक्ति-सौष्ठव से होता है, तो भी कला की मूल्यवत्ता इतने में ही सीमित नहीं रहती।—द्र० मेरी 'मूल्य मीमांसा'।

३६. कॉलिंगवुड, 'द प्रिंसिपल्स ऑफ़ आर्ट', पृ० २८८

३७. ज्ञान की यथार्थवादी व्याख्या कल्पना को ज्ञानाधीन और ज्ञान को विषय की अनुकृति बना देती है। फलतः कल्पना अनुकृति ही सिद्ध होती है। कल्पना से अभिन्न होने के कारण भावना सुतराम् अनुकृति बन जाती है। इसके विपरीत ज्ञान की विज्ञानवादी व्याख्या कल्पना को ज्ञान की रचनात्मक शक्ति मानती है। एक अधूरे विज्ञानवाद से कुछ कल्पनाएँ अनुभव मूलक और कुछ अनादि सिद्ध होती हैं।

इनसे भिन्न कार्श्मीरी शैव मत में चेतना की विमर्शाख्य स्वातन्त्र्य-शक्ति है जो विषयों को बहिर्वत् आभासित करती है और सघन होने पर उन्हें आत्मसात् कर लेती है।

कल्पना या भावना की एकतानता से विषय का प्रत्यक्षवत् भान होता है, यह सर्वसम्मत है। यह प्रतिभान प्रमाणरूप है, स्मृतिरूप है या भ्रान्तिरूप, यह विवादास्पद है। अभिनव रस-साक्षात्कार को इन सभी कोटियों से बिलक्षण बना देते हैं।—तु० ना० शा०, पृ० ६७०-७१

३८. द्र० "ज्ञानविशेषस्यैव च वर्णात्मत्वात्"—ध्वन्यालोक, पृ० १५८

३९. आनन्द या चमत्कार पर द्र० 'अभिनव का रस-विवेचन' पृ० ११७-२१ में उद्धृत सन्दर्भ। यह आनन्द सघन अन्तर्मुख अनुभूति की विशेषता है।

४०. तु० 'भक्तिरसायन' १-११-१३

४१. तु० पंचदशी, विषयानन्द प्रकरण; तु० रसशास्त्रश्चविनयोन्मुखीकरणाय···अप्राकृत रस एव महातात्पर्यस्य सत्त्वात्।"—करपात्रि स्वामी का 'भक्तिरसायन' पर निबन्ध, पृ० ११

४२. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" में कवि का कार्य सत्य के अनुसार अलौकिक रूप से अर्थ-विधान सिद्ध होता है। सनातन सृष्टि ही देव-काव्य है। उदाहरणार्थ द्र० ऋ० १०-५५-५।

४३. ऋ० ९-९६-१८ में सोम को 'ऋषिमना', ऋषिकृत् और 'पदवीः कवीनाम्' कहा गया है।

४४. ऋ० ९-९७-७ में तो दिव्य कवि सोम का उपमान मानव कवि उशनस् में खोजा गया है! उशनस् सचमुच ही महान् कवि रहे होंगे। तभी गीता में कहा गया है : "कवीनामुशानाः कविः।"

४५. ऋ० १-९०-६-८

४६. इसी लिए पुरुषसूक्त में मानव-समाज की सृष्टि के लिए मानव या पुरुष को ही हवि बनाया गया है। "हविर्वै दीक्षितः" इस न्याय से यह आत्मत्याग यज्ञमात्र का सिद्धांत है।

४७. उदाहरण ऋक्० १-१२-६; १-३१-२

४८. पनिक्कर, मन्त्रमंजरी, पृ० १४२

४९. ऋ० १-१६४-४१

५०. द्र० ऋ० १०-७१

५१. उदा० ऋ० १-३-१०-१२, १-१६४-४९।

५२. ऋ० १०.१२५

५३. तु० ऋ० ७-८७-३; अथर्व० ४-१६।

५४. उदा० अथर्व० ४-१५; ऋ० ५-८३
५५. उदा० ऋ० १-६२
५६. ऋ० ४-५७, १०-१४६
५७. वही १-११३
५८. वही, १०-१२६, १.१६४
५९. वही, २०-१८
६०. वही, ६-११२
६१. वही १०-३४
६२. तु० "तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्त् सुक्तमुच्यत इति । यद्वै तत्सुक्तम् । रसो वं स (तै० ब्रह्मवल्ली ७) । स्वतन्त्र कृति ही यहाँ सुकृत है जिसमें शोभा शुभता दोनों ही सन्निहित हैं । सुकृत ही रस है ।
६३. ऋ० ३-५३-८; ६-४७-१८, यहाँ रूप मायिक है । पर ब्राम्हणों में रूप का प्रतीक के अर्थ में बहुधा प्रयोग मिलता है ।
शतपथ (६-४-१-१२, १०-५-२.२०) के अनुसार रूप गन्धर्वों का उपास्य है, और मन ही गन्धर्व है ।
६४. ऋ० १-१६४
६५. पट्टाभिराम शास्त्री का कहना है कि इन अन्तिम भागों से कोई अन्तर नहीं आता । महाभारत वीर प्रधान है और रामायण प्रारम्भ से करुण प्रधान ।
—ध्वन्यालोक, सम्पादकीय पृ० ६-१०
महाभारत के विषय में ऐसा ही मत डा० सुकथंकर ने भी व्यक्त किया है ।
—द्र० 'द मीनिंग आँफ़ द महाभारत'
६६. धम्मपद, ११-१४६
६७. वही, १८-२३५
६८. खुद्दक, जि० २, पृ० २६६
६९. वही पृ० २७०
७०. वही, पृ० २५६
७१. वही, पृ० २४६
७२. वही, जि० १, पृ० ३२
७३. वही, जि० २, पृ० २६०
७४. हाल की सुविदित गाथा—"ऊप्र णिच्चल-णिप्पन्दा बिसिन्तेपत्तम्हिरेहइ बलाआ" आदि में प्रचलित व्याख्या-परम्परा एक अभिसार-संकेत देखती है । इस अर्थ की प्रतीति का मूल व्याख्या-परम्परा ही हो सकती है, मूल गाथा तो नहीं ।
७५. अशोक ने जैन-प्रचार के लिए 'रूपों' का प्रदर्शन किया, किन्तु ये 'रूप' क्या थे, यह कहना कठिन है ।
७६. अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, तर्कशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के वर्तमान रूप मौर्योत्तर काल में निर्धारित हुए, यह प्रायिक मान्यता है ।
७७. श्रीअरविन्द, कालिदास, आनन्दवर्द्धन ने भी इन्हीं कवियों का नाम लेकर कहा है कि—ऐसे कवि तीन-चार या पाँच-छह ही विश्व में मिलते हैं ।

७८. तु० "तदंगनिष्यन्द जलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दन: ।।" (रघु० ३ ४१)

७९. तु० कुमार ५-३६

८०. उदा० नारायण शास्त्री खिस्ते

८१. शाकुन्तल, नान्दी

८२. वही "रम्याणि वीक्ष्य" इत्यादि

८३. कुमारसम्भव में सर्वाधिक रूप से निर्दशित है ।
तु० "इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन: ।।' (५-२)

८४. मेघदूत

८५. द्र० महायान सूत्रालंकार

८६. शाकुन्तल, भरतवाक्य ।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति लोक-व्यवस्था एवं जन-समुदाचार के परिवर्तनों का इतिहास मात्र न होकर मूलतः सनातन योग अथवा साधना की प्रतिविशिष्ट ऐतिहासिक परम्परा है। ज्ञान के क्षेत्र में इसका साध्य परा विद्या, कर्म के क्षेत्र में धर्म एवं अनुभूति के क्षेत्र में रस कहा जा सकता है और इस त्रिधाकरण के अनुसार एक ही मौलिक योग ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के रूप में विभक्त हो जाता है। व्यावहारिक स्तर पर यही त्रिविध साधना शास्त्रानुसन्धान, नीति एवं कला का रूप धारण करती है। यह सही है कि बहुधा पारमार्थिक अनुसन्धान को ही योग अथवा साधना कहा जाता है और शेष अवरस्तरीय अनुसन्धान को व्यवहार की आख्या देकर उससे अलग समझा जाता है। वस्तुतः परमार्थ का व्यवहार से भेद सन्दर्भविशेष में विचारमूलक व्यावृत्ति के रूप में ही सार्थक होता है, वह स्वयं पारमार्थिक नहीं है। उदाहरण के लिए मोक्षभागीय अनात्मव्यावर्तनात्मक विचार में चेतना को विषय-पराङ्मुख करने के लिए व्यवहार हेय पक्ष में व्यवस्थित किया जाता है। किन्तु परिनिष्पन्न लक्षण ज्ञान के लिए परमार्थ और व्यवहार का भेद ही असिद्ध ठहरता है।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (ईश, ७),
"न संसारस्य निर्वाणात्किंचिदस्ति विशेषणम।
न निर्वाणस्य संसारात्किंचिदस्ति विशेषणम्॥"
(माध्यमिक कारिका २५, १९)।

इसी प्रकार निगमागमात्मक शास्त्रीय आम्नाय एवं सनातन विद्या में पारमार्थिक भेद नहीं माना जा सकता। राजसिक बुद्धि के लिए शास्त्र भले ही तर्क-तांडव एवं तामसिक बुद्धि के लिए अन्धश्रद्धात्मक प्रतीत हों, शुद्ध सात्त्विक बुद्धि के लिए वे परमार्थ के संकेत ही ठहरते हैं। इस प्रसंग में रामकृष्ण परमहंस की एक अनुभूति उल्लेखनीय है। उन्होंने एक बार देखा कि भागवत, भगवच्चित्र

एवं वह स्वयं एक ही प्रकाशरश्मि में गुँथे हुए हैं। उनके कहने के अनुसार इस अनुभूति में ईश्वर, शास्त्र और आत्मा की एकता का संकेत निहित था। यह स्मरणीय है कि शास्त्र का स्वरूप पुस्तक न होकर उपदेश है। वैखरीरूप स्थूल वाक् में निबद्ध उपदेश अनिवार्यतया क्रिया-सापेक्ष होते हैं, भले ही क्रियामात्र परिभाषा अथवा सांकेतिक भाषा का प्रयोग हो। उदाहरण के लिए चिकित्सा-शास्त्र अथवा संगीतशास्त्र में उपदेश-ग्रहण स्पष्ट ही प्रयोग सापेक्ष होता है। तर्कशास्त्र अथवा गणितशास्त्र जैसे विशुद्ध पारिभाषिक शास्त्रों में भी प्रयोगा-भ्यास के बिना विशेष गति सम्भव नहीं होती। अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में भी इसी प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की त्रिपुटी शास्त्रोक्त विषय के यथावत् ज्ञान के लिए अपेक्षित होती है। तत्त्वसाक्षात्कार के पूर्व शास्त्रीय ज्ञान उसी प्रकार अधूरा और भ्रामक रहता है जिस प्रकार 'जनपद कल्याणी' का श्रवणमात्र से अनुवर्णन। परा विद्या अवश्य ही प्रत्यात्मवेदनीय है पर उसका मार्ग अन्ततः शास्त्र अथवा आप्तोपदेश से ही विदित होता है। यदि विद्या उपलब्धात्मक है एवं योग उसका अन्तरंग साधन, तो शास्त्रविद्या एवं योग के सांकेतिक उपदेश होने के कारण योग के उपकारक हैं। उपनिषद् एवं महायान-सूत्र, प्रत्यभिज्ञा एवं त्रैपुर आगम, योगवासिष्ठ आदि में यह ज्ञान की परम्परा सुविस्पष्ट है।

यह कहा जा सकता है कि पराविद्या एवं योग का अध्यात्मशास्त्र से आवश्यक सम्बन्ध स्वीकार करने पर भी अपरा विद्या एवं तत्प्रतिपादक शास्त्रों का इस मूल आध्यात्मिक परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता, जिसका परि-णाम यह होगा कि ज्ञान एवं विज्ञान की परम्पराएँ अत्यन्त विभिन्न होकर विद्या और अविद्या के समान एक-दूसरे की प्रतिषेधक बन जायेंगी और परमार्थ एवं व्यवहार का भेद पुनः पारमार्थिक हो जायेगा। एक और भी परिणाम होगा कि प्राचीन और नवीन संस्कृतियों का विरोध अपरिहार्य एवं सर्वांगीण हो जायेगा। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि परा एवं अपरा, विद्या एवं अविद्या, इनका भेद जिस ज्ञान से इस रूप में व्यवस्थापित होता है उसे उभयोप-संहारक ही मानना होगा। नाना पदार्थों के विज्ञान के परे एकत्व का ज्ञान और उस एक के प्रकाश में नाना का प्रतिविज्ञान, यही सम्पूर्ण ज्ञानयोग का वास्तविक आदर्श है।

> **"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।**
> **सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥"** (ईश० ६)

यही आदर्श **योगसूत्रों** में निर्दिष्ट है—**"तारकं सर्व विषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।"** (३, २४) बौद्ध और जैन आगमों में परा विद्या को

इसी सर्वज्ञता के रूप में लिया गया है। अनन्त ज्ञान की शक्ति आत्मा अथवा चित्त में स्वरूपतः विद्यमान रहती है। चित्त के विमलीकरण के द्वारा इस सहज ज्ञानशक्ति का विकास ही ज्ञानयोग है। वस्तुतः सभी जिज्ञासा में यही प्रक्रिया न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होती है और इसी लिए सभी विज्ञान ज्ञान की पूर्व-पीठिका के रूप में एक अनन्त जिज्ञासा के सूत्र में संग्रथित हैं। **'व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥' (मध्यमक २४. १०)**। अमृतार्थी के लिए व्यवहार उसी प्रकार आवश्यक है जैसे सलिलार्थी के लिए पात्र। जिज्ञासा की अनन्तता एवं ज्ञान की अन्तःस्थता अथवा सहजता का आभास ही ज्ञानयोग को जन्म देता है। और वह क्रमशः व्यवहार की प्रतिबिम्बाकारता को स्पष्ट करता है।

इसके विपरीत आधुनिक ज्ञान-दर्शन एवं प्राकृत बुद्धि सीमित बाह्य विषय के प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का आधार मानते हैं। इसी प्रवृत्ति के आधार पर प्राचीन शास्त्र-परम्परा को आजकल 'लौकिक' और 'धार्मिक' कह कर दो विभागों में बाँट दिया जाता है और इन दोनों से ही सर्वथा अलग होकर योग एक गुह्यपरम्परा मात्र बन जाता है। आधुनिक दृष्टि की ठीक प्रतिपक्षभूत एक प्राचीन दृष्टि भी थी जो कि इसी भेद के आधार पर संसार-त्याग का समर्थन करती थी। इस संन्यासपरक दृष्टि से लौकिक जीवन और उसका साधक ज्ञान दोनों ही हेय ठहरते थे और यह स्पष्ट ही सामाजिक अभ्युदय की विरोधक थी। पर इस प्रकार की दृष्टि वैसे ही एकान्तावलम्बिनी है जैसे कि आधुनिक भौतिकवादी दृष्टि। सम्यक् ज्ञान का मार्ग मध्यमार्ग ही है। **प्रतिपत्सैव मध्यमा।'** किन्तु उसे ठीक न पकड़ पाने पर व्यक्ति और समाज के लिए एक भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। **'विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेघसम्। सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥" (मध्यमक २४. ११)**। यह एक खेद की बात है कि भारतीय परम्परा में निवृत्तिमार्गी प्रभाव में ज्ञानयोग की वैदिक सम्पूर्णता से क्रमशः हट कर विश्वमिथ्यात्व के दलदल में धँसने की प्रवृत्ति मध्य युग में विशेष रूप से बलवती हुई।

कर्म के क्षेत्र में धर्म की साधना ही कर्मयोग है। कर्म की अहंकारमूलकता और भोगार्थकता के विशोधन से कर्मयोग सम्पन्न होता है। अशोक के शब्दों में धर्म के मूल में संयम और भावशुद्धि है। इन्हीं के परिशीलन से कर्तृत्व का आन्तरिक पुनर्गठन होता है। इस प्रतिक्रिया में कर्म का कोई विषयकृत उत्कर्षापकर्ष नहीं है। उत्कर्षापकर्ष होता है मनोमय प्रयोजक हेतुओं की विशुद्धि के अनुसार। कर्मयोग आदर्श मानवता की साधना है जिसमें मानवीय आदर्श भोगसंचय न होकर धर्मवृद्धि है। धर्मचर्या अन्ततः विधि के मूलभूत बुद्धिनिहित सहज विवेक से प्रेरित होती है और उसके परिणामस्वरूप आचार में संयम,

निःस्वार्थता, कर्तव्यनिर्वाह, आत्मौपम्य का बोध एवं परोपकार आदि लक्षण प्रकट होते है। व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही आयामों में यह साधना एक साथ अग्रसर होती है और इसी लिए धर्म एक ओर व्यक्ति के चारित्रिक आदर्श को सूचित करता है, दूसरी ओर आदर्श सामाजिक व्यवस्था को। धर्म के इन्हीं दोनों पक्षों को धर्मशास्त्र की परम्परा में वैदिक आचार के आधार पर साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म के रूप में व्यवस्थित किया गया। साधारण धर्म सभी आगमिक एवं आध्यात्मिक परम्पराओं में भी स्वीकृत हुआ। प्रवृत्तिमूलक कर्म को नैतिक-आध्यात्मिक प्रेरणा से जोड़ते हुए कर्मयोग के निष्कामता, समत्व यज्ञार्थकता, लोकसंग्रह, आत्मौपम्य, समर्पण आदि घटक गीता आदि अध्यात्म-शास्त्रों में निरूपित हैं। स्वधर्म के द्वारा कर्मयोग सामाजिक कार्यप्रवाह से जुड़ जाता है। उसका आन्तरिक भावपक्ष व्यक्ति की साधना का अंग है। आचार और व्यवहार का यह भेद आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान के भेद के समानान्तर है। आचार का सन्दर्भ धर्म की शाश्वत व्यवस्था है जिसमें प्रत्यक्ष अथवा कालिक परिणाम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। व्यवहार का सन्दर्भ समाज की सत्ता प्रधान ऐतिहासिक व्यवस्था होती है। **'राजा कालस्य कारणम्।'** इस सन्दर्भ में कर्म का निर्देश जिस विद्या के द्वारा होता है, वही नीतिपद वाच्य है। नीति अर्थ को संलक्षित कर उपयुक्त उपायों की योजना है। राजनीतिक और आर्थिक जीवन में उपयोगिता को कर्म का दिग्दर्शक स्वीकार करना ही नीति का मौलिक सिद्धान्त है। आदर्श जीवन के लिए जीविका के समान ही धर्म के लिए अर्थ अपेक्षित होता है। **'धर्मादाक्षिप्यते ह्यर्थः।' (भागवत)**। इसी लिए नीति अपेक्षित होते हुए भी धर्म के विरोध में नहीं रहती, जब तक उसे स्वयं ऐकान्तिक न मान लिया जाय। जहाँ कर्मयोग आत्मोन्मुख और प्रयोजक-प्रत्यवेक्षी होता है, नीति परिणामोन्मुख समीक्ष्यकारिता होती है। विभिन्नस्तरीय होते हुए भी नीतियोग की उपकारक ही मानी जानी चाहिए। वेदोक्त ब्रह्म और क्षत्र की अन्विति में यह निर्दशित है। अर्थशास्त्र, शान्तिपर्व आदि में भी यही प्रतिपादित है।

किन्तु जैसे ज्ञान के क्षेत्र में अपरा विद्या अविद्या मात्र बन कर मध्यकाल में उपेक्षित होने लगी, ऐसे ही कर्मयोग को ज्ञानविरोधी एवं धर्म और नीति को निरपेक्ष मानने से मध्यकाल में कर्म का ह्रास होने लगा। प्राचीन अर्थशास्त्र की परम्परा ही लुप्त हो गयी और धर्मशास्त्र व्रत, प्रायश्चित्त और दान के विस्तार में खो गया। परिणामतः राजनीति का सम्बन्ध जनहित और आदर्श मूल्यों से हट गया एवं धर्म-साधना का सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन एवं राजनीतिक व्यवस्था से।

ज्ञानयोग मनुष्य को प्राकृतिक विषयों की उपलब्धि से आत्मानुभूति की

ओर ले जाता है और पुनः विषय-प्रपंच की प्रतिबिम्बाकारता को पुरस्कृत कर एक अखंड सत्य में पर्यवसित होता है। कर्मयोग कर्तृत्व की औपाधिकता को व्यक्त करता हुआ आधिभौतिक-सामाजिक कार्यकारण श्रृंखला से नियत घटनात्मक कर्म से चेतना को भावात्मक हेतुओं के आत्मानुकूल व्यापार की ओर ले जाता है। ज्ञानयोग से प्राकृत विषयों में आग्रह के शिथिल होने पर एवं कर्मयोग से असात्त्विक भावों के शिथिल होने पर ही भक्तियोग का विकास सम्भव होता है। आत्मिक अथवा परमात्मिक रस-रूपता की अनुभूति ही पारमार्थिक भक्तियोग है। जैसे ज्ञानयोग में सीमित विषय एक निःसीम ज्ञान के प्रतिबिम्ब बन जाते हैं और कर्मयोग में प्रत्येक कर्म आत्मस्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति, इसी प्रकार भक्तियोग में सभी अनुभूति रस की व्यंजक, सभी कर्म लीला के रूप बन जाते हैं। व्यावहारिक जीवन का इस प्रकार का रूपान्तरण कला में तात्कालिक रूप से सर्वगोचर होता है। कला मानो जादुई खिड़कियाँ खोल देती है और व्यवहार के दुर्ग में बन्दी प्राकृत जन को उत्ताल भाव-सागर की एक छटा दिखा देती है। इससे स्थूलाग्रही मानस को यह भ्रम हो जाता है कि जीवन और कला नितान्त भिन्न हैं एवं सौन्दर्य विश्व मायिक मात्र है। मानो विश्वमात्र मायिक न हो! वस्तुतः जैसे ज्ञान का रहस्य तब तक समझ नहीं आता जब तक उसकी स्वतन्त्रता नहीं समझी जाती, जब तक सब विषय ज्ञान को विशेषित करने वाले आकार मात्र नहीं समझे जाते; इसी प्रकार जब तक एक मूल महाभाव की स्वतन्त्रता और सब विषयों की उस मूल महाभाव के औपाधिक भेदों के लिए मात्र प्रतीयमान आलम्बनरूपता नहीं समझी जाती तब तक रसानुभूति का रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकता और न भक्तियोग एवं कला का सम्बन्ध ही स्पष्ट हो सकता है।

वैदिक युग में आराध्य सोम और आत्मा की रसरूपता के प्रतिपादित होने पर भी परवर्ती भौतिक सभ्यता के उत्कर्ष के युग में रस नाट्य-पुस्तक काल्पनिक भोग के रूप में समझा जाने लगा। इस वेदोत्तर काल में मूल संस्कृति की सहज अन्विति खो गयी। कला और जीवन का पार्थक्य संस्कृति की इसी आन्तरिक विकृति का एक लक्षण है। तथापि एक स्तर पर अभिनव गुप्त से रूपगोस्वामी तक आचार्यों ने रस-तत्त्व का निरूपण करने में उसकी आध्यात्मिक महिमा का संकेत किया है। वाङ्मय में **भागवत** एवं **रामचरितमानस** भक्ति एवं रस की समन्विति के विशिष्ट उदाहरण हैं।

भारतीय संस्कृति सनातन विद्या की ऐतिहासिक परम्परा है। इस साधनात्मक संस्कृति को आत्म-संस्कृति अथवा परावृत्ति का मार्ग कहा जा सकता है। मूलतः वैदिक युग में यह संस्कृति एक सहज अखंडता से लक्षित थी। परवर्ती युग में सभ्यता के विकास के साथ साधनात्मक मूल संस्कृति सभ्यता के

विश्व से पृथक्-सी एक धारा बन गयी, यद्यपि वाङ्मय, कला आदि में उसका सांकेतिक निरूपण सभ्यता के विश्व को निरन्तर अलंकृत करता रहा। मध्य-काल में सांस्कृतिक मूल से न्यूनाधिक रूप में विच्छिन्न होने के कारण सभ्यता का प्रासाद भी क्रमशः ढह गया। जहाँ नवीं-दसवीं शताब्दियों तक भारतीय सभ्यता विश्व-सभ्यता की प्रथम श्रेणी में थी, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वह निश्चित रूप से पिछड़ी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी से अवश्य ही फिर से प्राचीन परम्परा की स्मृति उभरी है, जिसमें योग देने वाले मनीषियों में इस व्याख्यान-माला में स्मरणीय स्वर्गीय डा० हीरानन्द शास्त्री उल्लेखनीय हैं। गीता का पुनः प्रचलन और उसकी कर्मयोगपरक व्याख्या आध्यात्मिक संस्कृति को सामाजिक-भौतिक जीवन से जोड़ने का प्रयास है जिसे गान्धी जी ने व्यावहारिक जीवन में मूर्तिमान् किया है। डा० कुमारस्वामी ने आध्यात्मिकता, कला और जीवन की मौलिक अन्विति का पुनः प्रतिपादन किया है और आधुनिक भारतीय काव्यधारा में यह पुरानी दृष्टि बहुधा व्यक्त हुई है। स्वतन्त्रता के बाद के युग में सभ्यता के निर्माण में ऐकान्तिक रूप से लगी हुई भारतीय चेतना, कम से कम तात्कालिक रूप से, मूल संस्कृति की प्राणदायकता के तत्त्व को भूल-सी रही है। पर अपने समय के विषय में तटस्थता से कुछ कहना कठिन है। सम्भवतः ऐसी मानवीयता की परम्परा विस्मरणीय न होगी जो जीवन को सहजता, स्वाधीनता एवं समग्रता देने में समर्थ है।

□□□

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
(स्थापित १९५०)
२३, दरियागंज
नयी दिल्ली-११०००२

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
(स्थापित १९५०)
२३, दरियागंज
नयी दिल्ली-११०००२